सोहागबिन्दी

तथा

अन्य नाटक

लेखक

गणेशप्रसाद द्विवेदी एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१६३५

[मूल्य १)

पत्रपुष्प

पाश्चात्य नाटक के मेरे एक-मात्र गुरु श्री
पंडित अमरनाथ झा की सेवा में
लेखक की यह प्रथम कृति
सादर, सस्नेह भेंट ।

—लेखक

दो शब्द

हिन्दी में मौलिक नाटक का नितान्त अभाव है, विशेषकर 'आधुनिक' नाटक का। मुझे यह अभाव बहुत दुःख देता है। नाटक-लेखक में जिस प्रकार की और जितनी प्रतिभा, शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता है वह मुझमें है या नहीं मुझे नहीं मालूम, शायद नहीं है। अभी तक मेरी नितान्त नगण्य साहित्य-सेवा कुछ अन्य क्षेत्रों तक ही परिमित थी। पर धुन ही तो है। हिन्दी नाटक को उन्नत करने की महत्त्वाकांक्षा, इस दिशा में अपनी शक्ति-परीक्षा, और कुछ इस प्रकार के मौलिक साहित्य निर्माण की धुन जो संसार के श्रेष्ठ गद्य-साहित्य के साथ कंधा मिला सके, बस इन्हीं कारणों से नाटक लिखना मैंने अपना धर्म समझ लिया है। सफलता या असफलता की चिन्ता प्रायः मुझे नहीं सताती। मैं अपना कर्त्तव्य कर चलता हूँ—

इस छोटी-सी पुस्तक में मेरे छः एकांकी नाटक संग्रहीत हैं जिनमें पाँच 'सरस्वती', 'माधुरी' तथा 'सहेली' आदि पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित हो चुके हैं। अन्तिम नाटक 'सर्वस्व-समर्पण' 'हंस' में भेज चुका हूँ,

पर उसके प्रकाशित होने के पहले ही यह संग्रह यंत्रस्थ हो गया।

इन नाटकों के सम्बन्ध में मुझे विशेष कुछ कहना नहीं है। यह जैसे हैं वैसे आपके सामने हैं। यों तो विषय इन सभों का ही सामाजिक है, पर इनके द्वारा समाज-सुधारक बनने की धृष्टता मैं नहीं करने का। नाटक के रूप में कोई सुन्दर वस्तु का निर्माण ही मेरा ध्येय हो सकता है।

यहाँ एक बात नाटक के 'टेकनीक' के सम्बन्ध में मुझे कहनी है। 'शर्माजी शीर्षक नाटक में मैंने टेलीफोन-द्वारा दो पात्रों में कथोपकथन कराया है। छपते समय मेरे एक मित्र ने कृपा कर मुझे सुझाया कि यह 'टेकनीक' की एक भद्दी भूल है। कदाचित् हो। इसके निर्णय का भार आधुनिक रंगमंच से सुपरिचित रसज्ञों पर रहा। जो हो, मैं उसे बदल न सका। 'टेकनीक' के बोझ-तले कला को कुचल देने का मैं पक्षपाती नहीं हूँ। और फिर उसी रूप में वह नाटक 'सरस्वती' में छप चुका था, इसलिए और भी कुछ परिवर्तन करने की प्रवृत्ति नहीं हुई। पर हिन्दी का राष्ट्रीय रंगमंच तो कोई अभी तक है ही नहीं। होने की जो आशा थी भी उस पर शायद सदा के लिए ही इस टाकी-युग ने पानी फेर दिया।

इस दृष्टि से नाटक लिखना ही व्यर्थ होगा, क्योंकि विद्वानों का कहना है कि नाटक वही है जो रंगमंच पर सफल हो, पर जब रंगमंच ही नहीं है तो नाटक सफल कहाँ होगा ? मेरा भी विश्वास पहले यही था, पर पाश्चात्य नाटक का इतिहास और विकास देखते हुए मैं अपना विचार दोहराने पर विवश हुआ हूँ। अब मेरा विश्वास है कि रंगमंच हो या न हो, टाकी का पारा चाहे जितना चढ़े पर नाटक रहेगा। मेरी धारणा होगई है कि इन कठिनाइयों के होते हुए भी केवल साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी नाटक का एक उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित है, और जो कदाचित् बहुत दूर नहीं है।

—लेखक

नाटक-सूची

सोहागबिन्दी

नाटक के पात्र

काली बाबू—एक स्टेशन मास्टर।
प्रतिभा देवी—उनकी पत्नी।
विनोद—एक कालेज का छात्र, काली बाबू का मौसेरा भाई।
बनकटा महराज—स्टेशन का खलासी।
गजाधर—एक अहीर।
पुरोहित, काली बाबू की मामी तथा कुछ अन्य स्त्री-पुरुष।

दृश्य १

[बी० एन्० डबल्यू० आर० का एक छोटा स्टेशन। यहाँ पैसेंजर ही खड़ी होती है, वह भी एक मिनट के लिए। पाएंटिंग किया हुआ लाल ईंटों का एक छोटा-सा कमरा। सामने थोड़ा-सा छाया हुआ बरामदा। बरामदे के एक ओर लकड़ी की एक बेंच पड़ी हुई, मुसाफ़िरों के बैठने के लिए। इसी के बग़ल ही में लोहे की तौलनेवाली मशीन। कमरे के एक ओर खिड़की, जिसमें टिकट काटने का यंत्र रक्खा हुआ है। खिड़की पूरी झिलमिली से ढकी हुई है और नीचे टिकट देने का छोटा-सा सूराख़ बना हुआ है। भीतर एक मेज़ पर टेलीग्राफ़ का यंत्र रक्खा हुआ है। दो चार बही-खाते और पुराने कार्बन पेपर बहुत-से अस्त-व्यस्त रूप में

इधर-उधर पड़े हैं। इसी कमरे के पिछवाड़े स्टेशन-मास्टर के रहने का 'क्वार्टर' है, जिसमें सिवा उनकी स्त्री के और कोई नहीं रहता। कमरे के पीछेवाली खिड़की से क्वार्टर पूरा दिखलाई पड़ता है। स्टेशन के एकमात्र अफ़सर काली बाबू हैं। वे ही टेलीग्राफ़ करते हैं, वे ही टिकट भी देते हैं, वे ही सब करते हैं। ज़रूरत आ पड़ने पर कमरे से बाहर निकलकर सिगनल भी डाउन कर देते हैं; क्योंकि उनके एक-मात्र ख़लासी—बनकटा महराज—ज़रा चिलम के शौक़ीन हैं, और 'बीड़ी तमाखू' की गोष्ठी के लिए उन्हें बस्ती तक जाना पड़ता है। ऐसे मौक़ों पर ज़रूर देर हो जाती है। पर काली बाबू उनसे कुछ कहते नहीं। इसके दो कारण हैं। एक तो वे इनके घर का सब काम सँभाले रहते हैं, दूसरे इनमें जात्यभिमान की कमी बिलकुल नहीं है। काली बाबू ने एक ही बार आज़माइश के तौर पर ज़रा मुंशियाने ढंग से इनको डाँटने का साहस दिखाया था; इस पर ब्राह्मणदेव ने वह रौद्र रूप धारण किया कि तब से काली बाबू चौकन्ने ही रहने लगे। काली बाबू की उम्र बाईस साल से ऊपर न होगी; पर महराज चालीस से कम नहीं। काली बाबू कुछ ऊँघते हुए भीतर की कुर्सी पर हुक़्क़ा पी रहे हैं। तीसरा पहर दिन]

[महराज का कुछ देहातियों के साथ झगड़ते हुए प्रवेश]

काली बाबू—[तंद्रा से चौंककर झल्लाहट के साथ] आफ़त है इन लोगों के मारे! अरे भाई लड़ने के लिए तुम लोगों को कोई दूसरी जगह नहीं मिलती? यह स्टेशन है।

महराज—[बड़े क्रोध से चिल्लाते हुए एक देहाती का हाथ पकड़कर भीतर खींचते हुए—दो तीन और भयभीत से बाहर ही खड़े रह जाते हैं] हजार दफा इन बदमासन से कहि चुके कि लैन किनारे गोरू न चरावा करौ, सुला के सुनथै। अब के सब ओलियाय न दिहा त बनकटा नाहीं, चमार। [हाथवाले देहाती को तर्जनी से धमकाते हुए बड़ी-बड़ी आँखें निकाल कर] सबका गुरू इहै गजधरा है। अहिर है न। अइस बेपीर कौनौ जाति नहीं होत। कौनौ गोरू कटि जाय, मरि जाय, तोहार का, गऊहत्या से त ई मनई न डेराथै!

गजाधर—[लापरवाही से खीस निकालते हुए] अरे त महराज—पू—कहाँ जाई पू चरावै पू—।

बाबू—[आँखें मलकर ज़रा चैतन्य हो कुर्सी पर कुछ सँभलकर बैठते हुए] भई, तुम लोग दरअसल बड़े

बदमाश हो। जानते नहीं, अगर कोई जानवर यहाँ कट जाय, तो हमारे ऊपर एक हज़ार रुपया जुर्माना हो जायगा। अब ख़बरदार, अगर कभी कोई जानवर यहाँ दिखाई पड़ा!

गजाधर—[हाथ जोड़कर] सरकार पू कहूँ चारा त हबै नहीं न, गोरू कहाँ जायँ, कसन जिएँ पू हजूर?

बाबू—[चिल्लाकर, खड़े होकर] अरे तो मैं क्या करूँ बदमाश! हमारी नौकरी लेगा? लैन की घास चराकर तेरे गोरू पलेंगे तो इससे मेरा क्या फ़ायदा होगा? मैं क्यों हुक्म देने लगा?

महराज—[उसी क्रोध की मुद्रा से] कहा, बाबू के सेर भर दूध पहुँचाइ जावा करौ, तौन सुनबै न किहिस [काली बाबू पीछे घूमकर इधर-उधर घूमने लग जाते हैं]।

गजाधर—अरे महराज, सेर भर त कुल दुधवै होथै त कसत करी पू।

बाबू—[महराज से बनावटी क्रोध से] क्या बेसिर-पैर की बातें करते हो महराज, मुझे नहीं चाहिए इन बदमाशों का दूध।

गजाधर—अरे सरकार, पू जवनं होइ सकी पाउ आधसेर पहुँचावा जाई पू, हाँ पू।

बाबू—क्या ख़ामख़ाह के लिए पू पू कर रहा है ? जा, निकल यहाँ से ।

गजाधर—सरकार दुइ पौत्र्या माँ फरक न परी। मुदा महराज से कहि देंइ ऊपर से खफा न होवा करइँ पू । अबै काल्हिन सेर भर दहिउ पीइन है ।

बाबू—[स्वर बदलते हुए महराज से, कुर्सी पर बैठकर हुक्का सँभालते हुए] बदमाशों से हज़ार दफ़े कहा कि जब मवेशी लाओ तो ख़ुद मौजूद रहा करो । पर कौन सुनता है । महराज, अगर कोई साथ में न हो, तो पकड़कर मवेशीख़ाने में दाख़िल कर दिया करो । अब निकालो इनको बाहर ।

[भद्दे तरीक़े से सलाम करते हुए चरवाहों का प्रस्थान । गजाधर के मुँह पर वही अर्थशून्य हँसी]

[चरवाहों का प्रस्थान]

महराज—[उन लोगों के साथ जाकर लौटता है, इधर काली बाबू अपना रेलवे का काला कोट और काली टोपी, जिसके आगे निकल के अँगरेज़ी अक्षरों में 'स्टेशनमास्टर' लिखा हुआ है, पहन लेते हैं, और कुछ काग़ज़पत्र सँभालकर खड़े हो जाते हैं] बाबू, गाड़ी आय रही है ।

बाबू—आई तो आखिर। आज सिर्फ़ सवा घंटे लेट है। हम यहीं हैं। देखो, अगर कोई उतरे तो टिकट यहीं माँग लाना। कौन जाय। [बाबू फिर कुर्सी पर बैठकर हुक्का सँभालते हैं। महराज हरी और लाल दो झंडियाँ लेकर बाहर जाता है। बाहर गाड़ी का शब्द और साथ ही गाड़ी छूटने की सीटी।]

[महराज एक अजनबी के साथ भीतर घुसता है। अजनबी क़रीब २५ वर्ष का सुन्दर युवा है और अच्छे कपड़े पहने है। देखने से कालेज का विद्यार्थी जान पड़ता है। खाकी निकर, ऊनी होज़, कनवास का जूता, कालरदार बनियाइन और नीला ब्लेज़र पहने है। आधुनिक फ़ैशन के लम्बी कलमवाले बाल कटे हैं। हाथ में एक चमड़े का मँझोला सूटकेस है।]

आगन्तुक—मैंने कहा, काली भैया को आदाब अर्ज़ है। [कहकर मुसकुराता हुआ एक ओर खड़ा रह जाता है। काली बाबू की तन्मयता भंग होती है और ऊपर सिर उठाते ही पहचानकर बड़े तपाक से मिलते हैं]

काली बाबू—अरे विनोद! ओफ़ ओह—भला इतने दिन बाद तुमने खबर तो ली।

विनोद—क्या करूँ, छुट्टी नहीं निकाल पाता था। हर वीकएंड को आपके यहाँ आने की सोचता हूँ। पर कोई-न-कोई इंगेजमेंट निकल ही आता है। उधर घर गये पूरे छः महीने हो गये। दशहरे की इतनी बड़ी छुट्टी सारी पिकनिक में ख़तम हो गई। फ़ादर सख़्त नाराज़ हैं। पर आज आपके यहाँ आ ही गया। ख़ासकर एक दफ़ा भाभी को देखने की बड़ी इच्छा थी।

काली बाबू—[मीठे तिरस्कार के स्वर से] चलो, हटो! चार वर्ष हम लोगों को यहाँ रहते हो गये, और आज आपकी सूरत दिखलाई पड़ी है। उनसे मैंने सालों से कह रक्खा है कि मेरा एक मौसेरा भाई यहाँ कालेज में पढ़ता है और उसने हर शनिवार यहाँ आने का वादा किया है। वह हमेशा रास्ता देखती हैं। जब कोई नहीं आता तो ऐसा अफ़सोस करती हैं कि बस। भई, असल बात तो यह है कि यहाँ उनका जी बिलकुल नहीं लगता। न आदमी न आदमज़ात। कोई अच्छी बस्ती भी तो नहीं है पास में। रोज़ ज़िद करती हैं कि किसी बड़े स्टेशन में बदली कराओ; पर भाई मेरे बस की बात हो तब तो। मगर यहाँ एक तरह से अच्छा भी है। बड़ी शांति है।

विनोद—[गम्भीर होकर] आप लोगों ने चार चार वर्ष इस जंगल में बिता दिये। भाभी भी जब से शादी हुई, तब से शायद इस क्वार्टर से बाहर नहीं निकलीं। यह ज़ुल्म है। ताज्जुब है, जो अब तक वे पागल नहीं हो गईं।

काली बाबू—[हाथ पकड़कर प्रेम से कमरे के बाहर घसीटते हुए] अच्छा, चलो तो, तुम्हारी मुलाक़ात करावें।

दृश्य २

[स्टेशनमास्टर साहब का क्वार्टर। एक कमरा। एक ओर एक पलँग और दो कुर्सियाँ। नीचे एक चटाई। एक ओर खूँटी पर कुछ कपड़े और किताबें। कमरे के दूसरी ओर एक दरवाज़ा, जो भीतर से बन्द मालूम होता है। काली बाबू और विनोद का कमरे में प्रवेश। पीछे-पीछे महराज सूटकेस लिये हुए आते हैं और उसे एक ओर रखकर बाहर चले जाते हैं]

काली बाबू—[बन्द दरवाज़े को धीरे से थपथपाते हुए] अरे सुनो तो। यह देखो, कौन आये।

[एक युवती का प्रवेश। वयस अठारह वर्ष। रंग गोरा। शरीर सुगठित और सुन्दर। एक साधारण साड़ी पहने हुए। यह काली बाबू की पत्नी प्रतिभादेवी

हैं। आप ज़रा जल्दी से दरवाज़ा खोलकर कमरे में आती हैं; पर पति के साथ एक अपरिचित युवक को देखते ही फ़ौरन घूँघट खींचकर भीतर जाने को होती हैं]

काली बाबू—[हँसते हुए] अरे सुनो तो, भागती क्यों हो? यह तुम्हारे देवर विनोद बाबू हैं। हमारे मौसेरे भाई हैं। शादी में थे, तुमने पहचाना नहीं?

[प्रतिभा ज़रा चौंककर थोड़ा-सा घूँघट हटाकर विद्युत्गति से एक दृष्टि विनोद पर डालती हैं और फ़ौरन निगाह नीची कर लेती हैं]

विनोद—[झुककर प्रणाम करता हुआ] भाभीजी, प्रणाम। पर मुझसे अगर इतनी शरम करेंगी, तो मैं चला। [ज़रा चलता हुआ पीछे को देखता है। प्रतिभा लजाती हुई फिर उसकी ओर देखती है और धीरे-धीरे फिर घूँघट खोलती है। बाहर के दरवाज़े से महराज दौड़ा हुआ आता है]

महराज—[काली बाबू से] बाबूजी, टेलीगिराफ।

काली बाबू—अच्छा आया। [विनोद से] भई, तुम बैठो, बातें करो, चाय-वाय पियो। मैं स्टेशन का काम निपटाता आऊँ। [कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये ही प्रस्थान। विनोद और प्रतिभा कुछ

देर एकटक उन्हीं की ओर देखते रह जाते हैं। फिर धीरे-धीरे एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं]

विनोद—बड़ी कठिन नौकरी है! यहाँ इस जंगल में आपका जी कैसे लगता होगा? [प्रतिभा ज़रा घूँघट नीचा कर लेती है। एक दीर्घ निःश्वास]

प्रतिभा—आप कपड़े उतारिए, कुछ नाश्ता कीजिए।

विनोद—[कुर्सी पर बैठता हुआ] भाभीजी, आप मुझे 'आप' क्यों कहती हैं? आप अगर सचमुच इतना तकल्लुफ़ करेंगी तो बस हो चुका। मुझे घबराकर भागना पड़ेगा।

प्रतिभा—[आधा घूँघट धीरे-धीरे उठाते हुए और आँचल का कोना थोड़ा-सा दाँतों में दबाते हुए] अच्छा बैठो तो। भागने की इतनी उतावली क्यों है? क्या नई बीबी छोड़ आये हो?

विनोद—नहीं, बीबी तो अभी नहीं है। जब होगी, तब आपको चलना होगा। चलेंगी न?

प्रतिभा—ज़रूर, भला—[कहकर आलमारी खोलकर कुछ नाश्ते का सामान तश्तरी में रखकर सामने लाती है] लो, पानी तो पियो। इस जंगल में और क्या धरा है, जो तुम्हें खिलाऊँ।

विनोद—क्या ख़ूब! भाभी के हाथ की चीज़ें, ये मेरे लिए किस न्यामत से कम हैं।

प्रतिभा—ओफ़ ओह—रहने भी दो! अच्छा यह बताओ रात को क्या खाओगे? कुछ कचौड़ी वग़ैरह बनाऊँ?

विनोद—इसके लिए माफ़ी चाहता हूँ भाभी। पकवान मैं कभी खाता ही नहीं। मुझे रोटी-चावल सबसे अधिक पसन्द है।

प्रतिभा—मगर यहाँ अच्छे सालन-वालन की आशा न रखना। रोटी क्या अच्छी लगेगी। ऐसी मनहूस जगह है कि यहाँ कुछ मिलता ही नहीं।

विनोद—यह आपने क्या शुरू किया भाभीजी! इतना तकल्लुफ़ तो—

प्रतिभा—तकल्लुफ़ नहीं भाई। तुम क्या रोज़ आते रहते हो? न-मालूम किधर चाँद उगा, जो आज रास्ता भूलकर इधर आ पड़े। चले जाने पर शायद कभी याद भी न करोगे।

विनोद—[ज़रा झेंपते हुए] गुस्ताख़ी माफ़ हो। आप वह भाभी नहीं हैं, जो एक बार देखने पर भूल जायँ!

[प्रतिभा शरमाकर सिर नीचा कर लेती हैं; कुछ देर के लिए दोनों निस्तब्ध]

प्रतिभा—कै दिन की छुट्टी है ?

विनोद—[चौंककर मानो सोते से जगा हो] छुट्टी कहाँ ! मुझे कल ही सुबह की गाड़ी से चले जाना होगा ।

प्रतिभा—पागल तो नहीं हो गये ! कल तुम्हारी दावत होगी ।

विनोद—अगर ऐसा है, तो रहना ही पड़ेगा ।

[फिर कुछ देर दोनों चुप रहते हैं ।]

विनोद—देखता हूँ, स्टेशन का सारा काम भाई साहब को ही करना पड़ता है । उन्हें तो इतनी भी फ़ुरसत नहीं कि इस तनहाई में आपके पास दो मिनट बैठें या खुद भी कुछ आराम कर सकें । अकेले इस तरह आपका वक़्त कैसे कटता होगा । मैं तो हैरान हूँ ।

[शरमाकर, ज़रा हँसकर तेज़ी से प्रतिभा बग़ल के कमरे में चली जाती है, विनोद मानों अपने कथन पर पश्चात्ताप करता हुआ कुछ देर सिर नीचा किये रहता है । सहसा उसी तेज़ी से प्रतिभा वैसे ही हँसती हुई अत्यन्त प्रसन्न-सी फिर कमरे में आती है]

प्रतिभा—अभी तक खाया नहीं क्या ? चुपचाप क्या सोच रहे हो ? मेरे सामने शरम आती हो तो चली जाऊँ ।

विनोद—शरम नहीं, सोच रहा था—[सिर ऊपर उठाकर अप्रतिभ-सा] अगर जल्दी में कोई वैसी बात निकल गई हो तो ख़याल न करिएगा।

प्रतिभा—क्या—[विनोद सिर नीचा किये चुप] आखिर किस चिन्ता में डूब गये? कुछ बोलो भी।

विनोद—अब क्या लड़ूँ आपसे?

प्रतिभा—[खिलखिलाकर तनकर खड़ी होकर] आओ, देखें—है ताक़त। [कहकर विद्युत्गति से भीतर प्रस्थान। भीतर से आई हुई खिलखिलाहट की मधुर ध्वनि। विनोद आँखें फाड़कर उधर देखता है, जिस ओर वह गई है। नीचे के होंठ दाँतों से कुछ दबाकर मधुर हास्य। कुछ देर बाद खाना शुरू करता है। थोड़ी देर बाद शांत भाव से एक हाथ में एक ग्लास पानी और दूसरे में पानों की तश्तरी लिये हुए प्रतिभा का प्रवेश। कुछ देर तक मानो बरबस बनावटी गम्भीरता से दोनों एक दूसरे को देखते रहते हैं, फिर दोनों एकाएक, साथ ही अकारण, एक दूसरे को देखकर खुलकर हँस पड़ते हैं, मानो जन्मजन्मान्तर के साथी हों। फिर धीरे-धीरे हँसी रुकती है। विनोद उनके हाथ से पानी लेकर पीता और पान खाता है।]

विनोद—[सकपकाता हुआ खड़े होते हुए] जाऊँ ज़रा स्टेशन की तरफ़ घूम आऊँ। देखूँ, भाई साहब वहाँ क्या कर रहे हैं।

प्रतिभा—[मीठे ताने के स्वर में] इस दरबे में अभी दस मिनट में ही तबीअत घबरा उठी क्या? [विनोद उनके मुँह की ओर देखकर ज़रा हँस देता है।]

प्रतिभा—[अर्थ-पूर्ण मुसकुराहट, हाथ पर ठुड्डी रख दरवाज़े के सहारे] हँसे—[जल्दी से] अच्छा क्यों हँसे?

विनोद—हँसा क्या, सोचता हूँ, अगर मैं दस मिनट में घबड़ा गया, तो चार बरस में आपका क्या हाल होना चाहिए!

प्रतिभा—[निराशासूचक मुद्रा से] हम औरतों की बात छोड़ो। हम लोगों के लिए और उपाय ही क्या है [म्लान हँसी की क्षीण रेखा, फिर एकाएक गंभीरता] अच्छा होते आओ। मैं इधर थोड़ा ब्यालू का इंतज़ाम कर दूँ। लो, वह महराज भी आ पहुँचे। मगर जल्दी आना।

[सब्ज़ी वग़ैरह लिये हुए महराज का प्रवेश। विनोद का प्रस्थान]

प्रतिभा—महराज, आज ज़रा अच्छा खाना बनाना। शहर से बाबू आये हैं।

महराज—[दंभपूर्ण हँसी] अब जस हमसे बनी—बहूजी, अइस बनाई देई कि इंद्र मोहि जायँ, मगर माल चाही।

प्रतिभा—[कुछ रुष्ट-सी] लो न माल, क्या चाहिए? पैसे मैं देती हूँ, जो मन में आवे, ले आओ। सालन मैं ख़ुद बनाऊँगी।

महराज—[अर्थपूर्ण हँसी से उसकी ओर देखते हुए] कुछ नाहीं, आप बैठी भर रहइँ। बाबू खुदइ दुइ रुपिया दिहेन हैं। कहेन, बस्ती से बढ़िया तरकारी अउ घी वगैरह लै आओ। चार सेर दूध हम पहिले ही चढ़ाय दिहा खीर के वास्ते। अउर जवन आप कहइँ।

प्रतिभा—[प्रसन्नता की हँसी] अच्छा तो सब तैयार करो। मैं ज़रा कपड़े बदल लूँ। [अन्दर जाती है। महराज सब्ज़ी वग़ैरह अलग-अलग एक ओर रखता है। विनोद का प्रवेश]

विनोद—भाई साहब कहाँ गये? स्टेशन में तो नहीं हैं?

महराज—[खीस निकालकर हँसने की चेष्टा करता हुआ] उइ साहब, बस्ती में गये हैं, दरोगाजी का बुलावै।

विनोद—[बनावटी आश्चर्य से] दारोग़ाजी ! क्या मुझे पकड़वाने के लिए।

महराज—[अट्टहास] अरे नाहीं साहेब, भला अइसा हुइ सकत है [अभिज्ञतासूचक स्वर में] हियाँ जौन दरोगाजी हैं, तौन बड़े सौखीन हैं। सब बाजा, फोनोगिराफ, तबला, हरमुनियाँ, सब हैं उनके पास। उनही का बुलावै गये हैं। पहले हम ही से कहेन रहै कि जाओ बुलाइ लाओ दरोगाजी के, ई कहिके कि बाबू के भाई आये हैं। तौन हरमुनियाँ बहुत अच्छा बजावत हैं। कहेओ कि बाजा-ओजा सब लेत आवैं। हम कहा, साहेब, ई तो आपै के गये से ठीक होई। बेमतलब साहेब, हाकिम के लगे के जाइ। तौन अपनै गये हैं। हमका दाम दैकै बजार भेजेन सौदा का। आप बइठईँ, बहूजी अबहिनें आवथैं। कपड़ा-ओपड़ा बदलति अहैं। [विनोद आराम से कुर्सी पर बैठकर सिगरेट-केस जेब से निकालकर एक सिगरेट जलाता है। महराज आसन मारकर तरकारी बनाने में लग जाता है।]

विनोद—[एक कश पीकर] महराज, यह तो बड़ी मनहूस जगह है। भाई साहब यहाँ कैसे रहते हैं, यही नहीं समझ में आता। ख़ासकर भाभीजी; क्योंकि भाई तो तुम्हारे दारोग़ाजी वग़ैरह के यहाँ बैठकर जी बहला लेते होंगे।

महराज—[बड़ी सहानुभूति से गद्गद स्वर में] कुछ न पूछैं साहेब। बहूजी का हद-बेहद तकलीफ हइ। मगर बाबूजी एकर कुछ परवाहै नहीं करते। ओ बेचारी कई दफा कहि चुकीं कि कोई अच्छी जगह बदली की कोसिस करौ। मगर ओ मूड़ी उठाय के देखेन तक नहीं। जल्दी-जल्दी आये, खाना खाइन, और भागे। बस, वही खाने के बखत बहूजी का दुइ-एक बात करैक मौका मिलत है, फिर नहीं। बहूजी जहाँ बदली-ओदली के बारे में कुछ कहेन कि बाबू खफा हो जाथैं। बहूजी अपनी कोठरी में चली जाथैं, और उही खिड़की पर बैठ के लैन ओरी देखै लागथै। मोती अस झरझर आँसू गिरै लागथै। ऐसे महीना पर महीना, साल पर साल कटत चला जाथै।

विनोद—बस वहीं हमेशा खिड़की पर बैठी रहती हैं? [स्वगत-सा] By god! far too severe than solitary confinement even!!

महराज—का कहेन हजूर, हम झूठ नहीं कहीथै।
विनोद नहीं, झूठ की बात नहीं। हम कह रहे थे कि यह तो कालकोठरी से भी ज़्यादा ख़राब है।
महराज—और का हजूर। कालकोठरी त बरू भल। बस बहूजी का एक आसरा है—उहै दूनौ बखत के गाड़ी। चार टिरेन आवथैं, दिनरात में, दुइ एहर से दुइ ओहर से और यह खिड़की से सब देखाथैं। बस घंटन पहले से ओ बेचारी उहैं खड़ी टिरेन की बाट जोहत रहथैं। जब स्टेशन से गाड़ी 'पास' होथै, तो बड़ी मगन होइ के देखथैं, जानो कौनो तसवीर खड़ी होइ के कोई क बोलावथै।
विनोद—[सँभलकर ग़ौर से सुनने को तैयार हो जाता है] वाह महराज, तुम तो शायरों की तरह बयान करते हो।
महराज—सायर का साहेब, आँखी से जइसन देखा, ओइसइ जस क तस आपसे कहीथै, अउर का।
विनोद—[बढ़ती हुई दिलचस्पी के साथ सामने झुककर] नहीं-नहीं, कहते चलो, हमको बहुत अच्छा लग रहा है। हाँ, अच्छा फिर ?
महराज—फिरि का साहेब, उहै गाड़ी क मनई उन कर जिअन-अधार हैं। जब तक गाड़ी जायँ, एक-एक डब्बा के लोगन के बड़े ध्यान से देखथैं, जानो सब

उनके मुलाकाती हैं। कभौं-कभौं गाड़ी में के कौनौ एकै मनई क चेहरा मन में बैठि जाथै; दिन भर ओही के बात सोचथैं औ हमसे सब कहथैं, ऊका पहिने रहा, ओकर नाक कस रही, ओकर मुँह कस रहा। फिर कई दिन तक ओही क जिकिर रहथै। जब मालगाड़ी आवथै, तब ओकर डब्बा गिनथैं, कौनौं में चालीस, कौनौं में पचपन! हमसे कहथैं महराज, तुमहूँ गिना करौ। फिर हमसे आपन गिनती मिलावथैं। कभौं-कभौं दोनौं के एक गिनती होथै, कभौं फरक पड़ि जाथै।

विनोद—और जब गाड़ियाँ निकल जाती हैं, तब क्या करती हैं?

महराज—फेरि का, जब तक गाड़ी देखाथै, तब तक एकटक देखत रहथैं। जब बिलकुल निगाह से ओझल होइ जाथै, तब उदास होइके सामने क मैदान देखथैं। हियाँ से हुआँ तक जब हरियर खेत फैला रहथै, तब घंटन खेत देखथैं। उनका एक-एक खेत का मेंड़ मालुम है। [खिड़की से उधर इशारा करते हुए] उहै लम्बा खेत जहाँ खतम होथै, एक छोट-सा गाँव है। उइ माँ दुइ ठो बड़े बड़े पेड़ हैं। ओह के ऊपर जब सुरुज देवता आवथैं, तब जानथैं कि संझा भइ, और तब मूड़ी लटकाइके भित्तर आवथैं और दिया-

बाती रसोई-पानी की फिकर करथैं। ऐसे दिन बितत जाथै।

विनोद—और जब खेतों में हरी फ़सल न रहती होगी, तब तो और मनहूस जान पड़ता होगा।

महराज—ए सरकार, तब की न पूछैं! जब जेठ बैसाख की दुपहरिया सनसनात रहथै और सब खेतन क माटी फाटि जाथै, तब इहै मैदनवा खाय दौड़थै। असाढ़ में जब बदरी होथै और ठंडी हवा क झोंका आवै लगथै, तब औरौ बेकल होइ जाथैं, मुला बैठी रहथैं। एक दिन देखा, खूब छकाछक पानी बरसत रहै। हमका टेसन पर से बाबू पान लावै भेजिन। हम कहा, सरकार खुद जायँ, बहू जी अकेल हैं। कहेन, नहीं, हियाँ हवा अच्छी है। जाव। छाता लइके पान ले आयन, देखा, बहू जी इहैं खिड़की पर बैठी अहैं। बौछार से सारी भीजी अहै। सिर पर टपाटप ओरी चुइ रही है और साथै उनकी आँखी से भी सावन-भादौं क झड़ी लगी है। हम त साहेब देखतै रहि गये। [महराज की आँखें भर आती हैं] हमका देखिकै पुक्का फारि कै रोइ उठीं। पर तुरंतै सँभरि कै पूछेनि, पान मँगाइन है? अब हम का बोलती। खड़ा रहे, फिर पान दिहिन, लैके गये [विनोद सकते की हालत में आ जाता है]।

विनोद—[डबडबाई आँखों और वाष्परुद्ध स्वर से एक दीर्घ निःश्वास के बाद] हूँ—अच्छा फिर ?

महराज—[कंधे पर के अँगौछे से आँख पोंछते हुए] फेरि का साहेब, ऐसे बरसात, गर्मी, जाड़ा सब एक ढंग से बेचारी का कलपतै बीतथै। पर अब ऊ सब बंद है। अब न केउ हँसत देखै, न रोअत। एक दिन बाबू से कहेनि कि ई दोनौं टिरेन से बड़ा सोर होत है, जब देखो, तब घड़घड़। बंद होइ जात तो अच्छा होत। बाबू कहेन, फिर खिड़की पर खड़ी होकर लोगों का मुँह कैसे देखने को मिलेगा। बहुत जोर कइकै बहू सिर्फ इहै कहेन कि वाह, अपना तो लोगों में जाकर जी बहला आते हैं, हमको टिरेन में आदमियों को देखकर दुख नहीं होता ? बाबू का जानी, कुछ सुनेन-समझेन की नाहीं। हमसे कहेन, जाओ, देखो, टेलीग्राफ तो नहीं आया !

विनोद—[विस्फारित नेत्र, दीर्घ निःश्वास] रहने दो महराज, अब नहीं सुना जाता।

[बग़ल का दरवाज़ा एकाएक खुलता है। बढ़िया रंगीन नीले रंग की रेशमी सारी पहने प्रतिभा का प्रवेश। केशपाश सुव्यवस्थित, भाल में लाल रंग की बिन्दी का टीका, जो उसके गोरे रंग पर ख़ूब खिल रहा है। मह-

राज और विनोद, दोनों कुछ देर एकटक उसके इस नवीन रूप को देखते रह जाते हैं।]

प्रतिभा—[विनोद से अति प्रसन्न मुद्रा से] यह तो मानो आसमान से गिर पड़े।

विनोद—आसमान से मैं गिरा या आप ? सचमुच मैं तो तुम्हें पहचान ही नहीं सका। इसमें कोई शक नहीं कि वेश-भूषा से आपका रूप बहुत बढ़ जाता है।

प्रतिभा—देखती हूँ, तुम्हारा सिर घूम गया। एक साथ ही 'तुम' और 'आप' !

विनोद—जल्दी में निकल गया; वापस लेता हूँ।

प्रतिभा—वापस मैं देने कब लगी। भाई, अब जब 'तुम' शुरू किया है, तो चलने दो। अब खबरदार 'आप' न कहना।

विनोद—अच्छा जो कहिएगा, वही कहूँगा। पर एक बात है। इस नीली, सारी पर यह लाल बिन्दी तो बस—आज सचमुच आपको प्रणाम करने को जी चाहता है।

प्रतिभा—[एकाएक खिलखिलाकर हँस पड़ती है] क्या बक रहे हो ?

विनोद—वाह ! भाभी, आप हँसती हैं ?

महराज—[तरकारियाँ समेटते हुए खीसें निकालकर अति प्रसन्न-सा स्वगत] की तो बहूजी जौने दिन आई रहीं, उहि दिन अस देखात रहीं की तो आज।
[आप ही आप खुशी में कुछ बड़बड़ाता हुआ बग़ल के कमरे में चला जाता है। विनोद या प्रतिभा, कोई उसकी बात नहीं सुनते, न उसकी ओर इनका ध्यान ही आकर्षित होता है]

प्रतिभा—[उसी प्रकार] क्यों हँसीं, यह सुनोगे तो तुम भी हँसोगे।

विनोद—अरे बताओ-बताओ।

प्रतिभा—[एक-एक शब्द के बीच में हँसने के लिए रुकते हुए] बात यह हुई कि बहुत दिन से कपड़े-वपड़े पहनने का कोई मौक़ा तो आया नहीं था। आज बिन्दी लगाने की तबीअत हुई, और बक्स में देखा तो बिन्दी की शीशी जो साथ लाई थी, कब की सूखी पड़ी है। आज चार वर्ष से ऊपर हुए। खैर, अब क्या करें, लड़कपन में हम लोग—[काफ़ी देर तक हँसने के लिए रुकती हैं]

विनोद—[आनंद-विभोर-सा, पर खीझकर] ओफ़ ओह, अच्छी आफ़त है, आखिर कहो भी—

प्रतिभा—[जी भर हँस लेने के बाद। विनोद उत्कंठा से व्याकुल] लड़कपन में हम लोग जब दुलहिन-दुलहिन खेलते थे, तो बिन्दी के लिए लाल फूल कुचलकर उसका रंग लगा लिया करते थे। सोचते-सोचते वही मज़ाक आज फिर सूझा। यहाँ स्टेशन पर इस तरह के फूल बहुत हैं। जाकर लाई, और फिर—

विनोद—[हँसने के स्थान पर गंभीर होकर] मगर मेरे आने से सचमुच इतनी ख़ुशी क्यों, मैं तो—

प्रतिभा—[बनावटी गाम्भीर्य] अच्छा तो अब नाराज़ होती हूँ।

विनोद—[बात बदलकर हँसने की चेष्टा से] नहीं-नहीं, यह मेरा मतलब थोड़े ही था। बात यह है कि मैं तो किसी लायक़ हूँ नहीं। और फिर—

प्रतिभा—[मानो बात लग गई] अगर ख़राब लगती हो तो यह बिंदी मिटा दूँ।

विनोद—[हँसता हुआ नज़दीक जाकर प्यार से] भाभी, तुम नाराज़ हो गईं! मेरा मतलब यह था कि यह बनावटी बिन्दी इतनी अच्छी लग रही है, तो सचमुच की बिन्दी लगाने पर न-जाने—

प्रतिभा—[मचलकर ज़रा हटकर] रहने भी दो, बड़े झूठी तारीफ़ करनेवाले।

विनोद—[बड़ी गम्भीरता से] यह बात नहीं भाभीजी, सजने पर सचमुच आप बड़ी सुन्दर लगती हैं। मैंने असल बात ही कही है।

प्रतिभा—[आश्चर्य की मुद्रा से सिर हिलाती हुई] अच्छा! यह एक नई बात आज मालूम हुई। मगर इससे तो तुम्हारा कुछ फ़ायदा नहीं होगा। शादी करते वक्त खूब खूबसूरत बहू देख-भालकर चुनना। न हो, मैं ही एक तुम्हारे पसन्द की चुन दूँगी। यह काम मुझे सौंपना।

विनोद—[कुछ बेसुरा होकर] हाँ-हाँ, सो तो होगा ही। [बैठ जाता है]

प्रतिभा—अच्छा, यहीं बैठो, अब चलती हूँ रसोई में।

विनोद—[मुग्धवत्] मैं भी चलूँगा। देखूँगा खाना कैसा पकाती हो।

प्रतिभा—[विचित्र भाव से मुँह देखती हुई] चलोगे?

[बाहर की ओर से महराज का प्रवेश]

महराज—[विनोद से] साहेब, बाबू आये हैं। संग में दरोगाजी औ देवानँजी दूनौं हैं। अवर कई जने हैं। एक जने बहुत अच्छा गावत हैं। करमअली

ढोलहा भी है। यहाँ बस्ती भर में ओकरे मोकालिबे ढोल कोई नहीं बजावत। सब बैठे हैं। उही पिलेट-फारम पर। पानी छिड़काय के जाजिम बिछाय दीन है। बस आपै क इन्तजार है। बाबू कहेन, जाओ, बोलाय ले आओ। [प्रतिभा और विनोद कुछ देर तक चुपचाप शून्य दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते रह जाते हैं, फिर दोनों साथ ही मुसकुरा पड़ते हैं]

प्रतिभा—तो जाओ न, देखते क्या हो ? मैं यहीं रसोई में से तुम्हारा बाजा सुनूँगी। [निराश दृष्टि से सिर नीचा कर उपेक्षा-पूर्ण दार्शनिक हँसी के साथ विनोद का प्रस्थान]

महराज—[प्रतिभा से] बहूजी, बाबूजी कहिन हैं, एक पचास बीड़ा के अन्दाज पान लगाइ के बड़ी तश्तरी में भेज देइँ। हम इन लोगन का बैठाय के सब ठीक ठाक करिकै आइत है। आप तब ताईं सब सामान ठीक कै राखैं। [जाता है]

दृश्य ३

[स्थान वही स्टेशन-मास्टर के क्वार्टर का कमरा। काली बाबू और प्रतिभा पास-पास बैठे हैं। समय प्रातः-काल। प्रतिभा बहुत सुस्त और उदास है। वेश-विन्यास में काफ़ी लापरवाही स्पष्ट है]

प्रतिभा—विनोद बाबू के उस दिन आने की बात थी। अभी तक नहीं आये। आज एक हफ़्ता हो गया—

काली बाबू—उस दिन इधर से पास तो हुआ था। मैंने बहुत कहा, मगर उतरा नहीं। कहने लगा, आज बड़ा ज़रूरी काम है। फिर आऊँगा।

प्रतिभा—[तीव्र उत्कंठा दबाते हुए] अब क्या आवेंगे ? [निराशा का अस्फुट स्वर]

काली बाबू—[कोट उतारते हुए और उसे प्रतिभा को देते हुए] इसे ज़रा धोबी को दे देना। बहुत मैला हो गया है।

प्रतिभा—[कोट लेते हुए उसकी जेब में कोई भारी चीज़ पाकर] यह क्या है ? [निकालने पर एक बढ़िया उपहार के योग्य सुन्दर सोहागबिन्दी की लाल शीशी पाकर] अरे, यह क्या। यह शीशी किस तरह आपकी जेब में आई ?

काली बाबू—[सकपकाकर सिर पर हाथ फेरते हुए] अरे, यह तो मैं तुम्हें देना ही भूल गया था। उस रोज़ जब विनोद इधर से पास हो रहा था, यह शीशी मुझे ट्रेन ही पर से देता गया था तुम्हारे लिए।

प्रतिभा—[स्तब्ध होकर] क्या ख़ूब ! आज चार रोज़ से

यह शीशी आपकी जेब में पड़ी है, और आपको एक दफ़ा भी ख़याल न हुआ?

काली बाबू—[पछतावे की मुसकुराहट] क्या बतावें, काम-काज इतना रहता है कि—तुम तो जानती हो, किसी बात की सुध ही नहीं रह पाती।

प्रतिभा—अच्छा ख़ैर; फिर कब आने को कह गये?

काली बाबू—कहा तो तुमसे। उसने कोई दिन नहीं बताया। कहा, आऊँगा, ज़रूर आऊँगा। बस, इतने में ट्रेन भी चलती बनी।

प्रतिभा—अब क्या—

काली बाबू—आख़िर इतनी उतावली क्यों? कहा है, तो कभी-न-कभी आवेगा ही। अब हमारा तबादला भी एक बहुत बड़े स्टेशन में होनेवाला है। वहाँ तुम्हारा जी बिलकुल न ऊबेगा। आशा है, अगले साल तक हो जायगा।

प्रतिभा—[उपेक्षा से] उँह, क्या होगा [कहकर शीशी को यत्न से लेकर भीतर की ओर जाते-जाते] हमारे लिए यही ठीक है। बल्कि इससे भी किसी मनहूस जगह बदली करवा लीजिए तो जान बचे। [काली बाबू ग़ौर से उसका मुँह देखते रह जाते हैं]।

दृश्य ४

एक साल बाद

[क्वार्टर का एक बहुत अच्छा कमरा। अँगरेज़ी ढंग से सजा हुआ। कुर्सी, टेबिल, आलमारी, पलँग, तिपाई आदि सभी अप-टु-डेट फ़र्नीचर मौजूद है। कमरे के दोनों ओर एक-एक और पीछे की ओर दो-दो बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ हैं, जिनसे बाहर बड़े स्टेशन का दृश्य साफ़ दिखाई देता है। आराम-कुर्सी पर काली बाबू बैठे हुक्का पी रहे हैं। देखने से पहले की अपेक्षा काफ़ी साफ़-सुथरे और प्रसन्नचित्त हैं। पलँग पर प्रतिभा एक गाव-तकिये के सहारे पड़ी हुई है। पहले से बहुत क्षीण और म्लान, मानों सालों से बीमार है। आँखें विस्फारित और एक अस्वाभाविक ज्योति से दमकती हुईं। चेहरा तमतमाया हुआ, मानो बुख़ार है]

काली बाबू—कहो, यह जगह पसंद आई? अब तुम्हारा जी भी न ऊबेगा, और तंदुरुस्ती भी ठीक हो जायगी। एक दिन रेलवे के बड़े डाक्टर को लावेंगे। [कुछ ठहरकर] बल्कि आज ही। आज उनका टर्न भी है इधर आने का।

प्रतिभा—[क्षीण स्वर से] क्या होगा, मैं अच्छी तो हूँ, मुझे क्या हुआ है?

काली बाबू—नहीं-नहीं, अब इलाज कराना ही होगा। मैं जब कहता हूँ, तुम टाल जाती हो। कहती हो, कुछ हुआ ही नहीं। ऐसे तो काम नहीं चलेगा। जब देखो तब बुखार, सिर में दर्द, खाना कुछ खातीं ही नहीं। बदन सूखकर काँटा हो गया है।

प्रतिभा—उँह, यह सब तो होता ही रहता है [ज़रा सिहरकर] मुझे जाड़ा लग रहा है। ज़रा कुछ उढ़ा दो [विचित्र भाव से]।

काली बाबू—[लपककर माथे पर हाथ रखकर शरीर का ताप देखने के बाद] ओफ़ ओह! तवे की तरह बदन जल रहा है [बाहर की ओर देखकर ज़ोर से] महराज! [महराज आते हैं, व्यग्र से] महराज, वह बड़ीवाली रज़ाई तो लाओ। [महराज जाकर रज़ाई ले आते हैं। काली बाबू उसे यत्न से ओढ़ाते हैं। प्रतिभा का शरीर गन गन काँप रहा है, रज़ाई को चारों ओर से समेट कर लेट जाती है]

काली बाबू—[अत्यन्त उत्तेजित सा] महराज, देखो तुम यहीं बैठो, मैं अभी जाकर डाक्टर लाता हूँ।

प्रतिभा—[रज़ाई के नीचे से अस्फुट स्वर में] तुम रात के जगे हो, जाओ नहा-धोकर खुद ही निकालकर कुछ

खा-पीकर सो रहो; मेरा बुख़ार अभी उतर जायगा।

काली बाबू—अच्छा, अच्छा, नहाने ही जा रहे हैं, तुम आराम से पड़ी रहो।

प्रतिभा—[बाहर सिर निकालकर हाथ से इशारा करती हुई] और देखो! वहीं आलमारी में कुछ बर्फ़ियाँ रक्खी हुई हैं, रात को बनाई थीं तुम्हारे लिए। [आधी उठकर कमर से चाबियों का गुच्छा निकालती हुई] यह चाबी लो। [एक चाबी अलग कर हाथ में देती हुई] देखो, इसी चाबी से खोल लेना और [फिर लेट जाती है। काली बाबू फिर अच्छी तरह से ओढ़ा देते हैं और जाने को उद्यत होते हैं, पर प्रतिभा उन्हें रोककर कहती है]—

प्रतिभा—और देखो मटके में दही है सँभालकर निकाल लेना, और खाकर यहीं आना और उस सफ़ेद मुरादाबादी कटोरदान में—

काली बाबू—[रोककर] अच्छा! अच्छा!! तुम ज़रा ख़ामोश होकर पड़ी तो रहो, मैं डाक्टर को लिवाता आऊँ।

प्रतिभा—[शरीर पर से रज़ाई हटाती हुई] नहीं, खाना खाकर आराम से सोना, रात भर तुम्हारी ड्यूटी

रहती है, और नहीं तो यहीं आकर हमारे पास बैठना। डाक्टर बुलाना हो—तो इसके बाद बुलाना [कहकर स्थिर दृष्टि से स्वामी के मुँह की ओर देखती है और मुसकुराने की चेष्टा करती है, काली बाबू उसे फिर ओढ़ाकर महराज को वहीं मौजूद रहने का इशारा कर तेज़ी से कमरे के बाहर निकल जाते हैं। कुछ देर सन्नाटा, फिर प्रतिभा सिर बाहर निकालती है और चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर महराज से]—

प्रतिभा—महराज, वह किधर गये तुम्हें मालूम है।

महराज—डाक्टर साहेब के क्वार्टर ओर गये हैं। अब्बै आवत हैं। अब जी कैसन है?

प्रतिभा—अच्छा है, ज़रा अँगोछा लाओ, मुझे पसीना आ रहा है।

महराज—[तुरत खूँटी पर से उठाकर तौलिया देता हुआ] अब बुखार तुरतै उतर जाई।

प्रतिभा—[ललाट पर से पसीने की बूँदें पोंछती हुई] अब कुछ ठंडक मालूम होती है।

महराज—बहूजी, आप नाहक जी खराब किहे रहत हैं। अब हियाँ सहर में कौनो तकलीफ न होई आपके। मालुम बिनोद बाबू इहीं बड़े कालिज में पढ़त हैं। कौनौ दिन जायके बुलाय ले आउब।

प्रतिभा—[म्लान मुसकुराती हुई] उँह, अब क्या होगा उन्हें बुलाकर [मानो उसका कंठस्वर किसी दूसरे लोक से आ रहा है], अब इन सब बातों का ज़िक्र न किया करो।

महराज—[अत्यन्त सहानुभूति के भाव से] ऐसन न कहैं बहूजी, आपका जवन तकलीफ है ऊ है तो बहुत, पर अइस जिउ छोट किहे से का फायदा। हम आजै जहाँ कहीं ओ मिलिहैं बुलाय ले आउब। अब त बाबू के भी तरक्क़ी भई है। भगवान की दया से सब अच्छै है। यही एक खराबी है कि बाबू के कहीं उठै बैठै के फ़ुरसत नहीं रहत। बेचारे राति भर डिउटी किहेन, दिन भरि सोएन। हुआँ त बरू घरी दुइ घरी बैठत भी रहें, हियाँ उहौ नाहीं।

प्रतिभा—[रज़ाई फेंककर पलँग से उतरकर टहलती हुई] उँह महराज, तुम क्या अंडबंड बकते हो। तुम क्या समझते हो, किसी के आने न आने से हमारी तबीअत ख़राब होती है।

[दरवाज़ा खुलता है। एक सूट-बूट, चश्माधारी डाक्टर के साथ काली बाबू का व्यग्र भाव से प्रवेश। स्त्री को आराम से कमरे में टहलती देखकर ज़रा प्रसन्नतामिश्रित आश्चर्य में पड़ जाते हैं। डाक्टर की

उम्र ५० के लगभग, शरीर लम्बा-चौड़ा 'क्लीन शेव्ड' चेहरे पर स्वाभाविक प्रसन्नता और सहानुभूति के भाव बहुत स्पष्ट हैं]

काली बाबू—[स्त्री से] अरे, यह क्या, तुम्हें बुखार इस क़दर हो रहा है और तुम इस तरह कपड़े फेंक-फाँक-कर टहल रही हो।

प्रतिभा—[मुसकुराकर हाथ बढ़ाते हुए] कहाँ है बुखार, लो देखो !

डाक्टर—[मुसकुराकर एक कुर्सी पर बैठता हुआ अत्यन्त प्रसन्न और दृढ़ भाव से] कौन बोलता इनको बोखार होआ। ए तो बौत आच्छा हाय।

काली बाबू—क्या ख़ूब, आपको भी क्या मज़ाक सूझा। ज़रा एक्ज़ामिन तो कीजिए।

डाक्टर—हाँ-हाँ, हाम देखेगा, मगर घबराने का कोई बात नेइ हाय [जेब से थर्मामीटर और स्टेथेस्कोप निकालते हुए, थर्मामीटर प्रतिभा को देते हुए] थोड़ा टेम्परेचर लीजिए तो [प्रतिभा थर्मामीटर आधा मिनट लगाकर उसको देती है, डाक्टर ग़ौर से उसे देखता है]

डाक्टर—कुछ नेइ हाय, बिलकुल नार्मल, आच्छा अब आप थोड़ा लेट जाइए, हार्ट एक्ज़ामिन करेगा।

[प्रतिभा को यह सब नागवार मालूम होता है, पर पति के ज़ोर देने पर राज़ी होती है, डाक्टर स्टेथेस्कोप से दिल और फेफड़े वग़ैरह की परीक्षा करता है]

डाक्टर—ओही बात, जो हाम आगे बोला। इनको कोई डिज़ीज़ नेईं, सिरिफ मेंटलवरी हाय। आसल बात खुश रैने आउर खुब ओपन एआर में घूमने आउर एक्सरसाइज़ का जोरूरत हाय। खूब आच्छा आच्छा खाना दीजिए। फ्रेश फ्रूट्स आउर ग्रीन स्टफ़ जितना खाय उतना आच्छा, आउर सबसे जरूरी हाय 'चेंज'। कोई पाहाड़ ओहाड़ हो तो आच्छा। कोई दावाइ का काम नेईं, सिरिफ पोर्टवाइन आउर हिमोग्लोबिन सिराप दोनों एक-एक बड़ा चम्मच [डेज़र्ट] रात सोते बखत; बास आउर कुछ नेईं। दो माइना में अंगूर का माफ़िक हो जायगा। ताजा दूध खूब दीजिए।

काली बाबू—सुनती हो, क्या कह रहे हैं ?

प्रतिभा—[मुसकुराती हुई] हूँ। मगर यह क्या तो पीने को कह रहे हैं।

डाक्टर—[उठकर टोप सिर पर रखता और स्टेथेस्कोप वग़ैरह पाकेट में सँभालता हुआ] आच्छा तो हाम चोले [खड़ा होता हुआ]।

काली बाबू—बहुत तकलीफ़ की डाक्टर साहब आपने, बड़ी मिहर्बानी की आपने, मगर यह तो बताइए, क्या सचमुच इनके इलाज की ज़रूरत नहीं।

डाक्टर—ई कौन बोलता जे इलाज का जोरूरत नेइ हाय। हाम जो इलाज बोला, उसको आप दिल्लगी समझता। ओही सबसे बड़ा इलाज हाय, आगर आप करने सके। आउर ओइसे बोले तो प्रेसक्रिपशन लिख दे, दस रुपिया रोज का।

काली बाबू—[झेंपता हुआ] नहीं-नहीं, यह मेरा मतलब नहीं था। अच्छा यह बताइए—पहाड़ ओहाड़ तो हमारे लिए ज़रा मुश्किल है। कहीं देहात में भेज देने से काम हो जायगा।

डाक्टर—खूब होगा। थोड़ा हेल्दी जायगा होना चाहिए।

काली बाबू—अच्छी बात है। कल ही लीजिए।

दृश्य ५

[स्थान वही, जो चौथे दृश्य में है। समय सन्ध्या ८ बजे। काली बाबू आरामकुर्सी पर लेटे हुए हुक्का पी रहे हैं। फ़र्श पर महराजिन बैठा हुआ है। दोनों चिन्तित हैं।]

महराज—बाबू घरवा बड़ा सून जानि परत है। बहूजी क चिट्ठी उट्ठी कुछ आवत है कि नाहीं ? अब तौ अच्छी होइहैं। उनके बिना सब घर खाँ-खाँ करत रहत है।

काली बाबू—[ज़रा झल्लाकर] अरे तो क्या करें घर खाँ खाँ करता है तो। जाके लिवा लाओ न। अभी तो कल ही उनकी चिट्ठी आई है, हर चिट्ठी में बराबर यही लिखती हैं कि मैं अब अच्छी हूँ।

महराज—अरे बाबू, ओ त अस कहबै करिहैं। [आँखों में आँसू लाता हुआ] आज छ-छ बरिस भवा, कबहूँ आपसे कहेनि है कि हमका कोई तकलीफ है ?

काली बाबू—[ग़ौर से महराज को घूरते हुए] तो गोया हमसे ज़्यादा तुम ही उनको पहचानते हो। अच्छा तो क्या तुम्हारा ख़याल है कि उनको हमारे साथ बड़ी तकलीफ़ थी ?

महराज—बाबू, हम गँवार मनई, दिहाती, आप पढ़ा-लिखा हुसियार होइ के जवन बात न समुझिहैं ऊ हम का समुझब। मुदा एतना जरूर कहब कि ओनका खुस हम कबहूँ नहीं देखा।

काली बाबू—[विस्फारित नेत्र] महराज, तुम आज घास तो नहीं खा गये हो ? मैंने उन्हें कभी कोई तकलीफ़ दी है ? कभी कड़ी बात तक तो कही ही नहीं आज

तक। अब इस पर भी किसी को तकलीफ़ हो तो क्या करें।

महराज—[रहस्य से] इहै त बतिऐ है—मगर सरकार, कसूर माफ रहै, एक बात कहब [आवेश और गंभीरता से] आप कभौं ई जानै क कोसिसो त नाहीं किहेन कि उनके मन में कहाँ कौन दुख है। एक आध दफे बहूजी कुछ इसारा किहे रहीं पै आप कुछ खियालै न किहेन। फिर बहूजी भी मन बटोरि लिहेनि।

काली बाबू—[लापरवाही से] तुम पागल हो।

[टेलीग्राफ़-पिअन का प्रवेश]

पिअन—[एक टेलीग्राम काली बाबू को देता हुआ] बाबूजी, आपका तार है [काली बाबू जल्दी से लिस्ट पर हस्ताक्षर कर तार ले लेते हैं, चपरासी सलाम कर चला जाता है। काली बाबू एक साँस में तार खोलकर पढ़ लेते हैं और एकदम घबरा उठते हैं]

महराज—[बड़ी दुश्चिन्ता से] का है बाबूजी ?

काली बाबू—है क्या, वही उनकी मामी का तार है, जिनके यहाँ वे ठहरी हुई हैं। कहती हैं, हालत बहुत ख़राब है, फ़ौरन आओ, मैं चला, देखें भगवान्—[महराज डबडबाई आँखों से चिन्ता में डूब जाता है,

काली बाबू जल्दी-जल्दी बाहर जाने की तैयारी में लगते हैं ।]

दृश्य ६

[एक देहाती गाँव में छोटा-सा घर । पीछे की ओर दो छोटे-छोटे कमरे दिखाई देते हैं, सामने एक लम्बा बरामदा है, जो खपरैल से छाया हुआ है । इसी बरामदे में एक लकड़ी के खम्भे के सहारे एक अधेड़ स्त्री खड़ी है । आँखें लाल हैं और रोते-रोते सूजी हुई-सी जान पड़ती हैं । पीछे फ़र्श पर दो-तीन और स्त्रियाँ उदास बैठी हुई हैं । इसी समय घबराये हुए काली बाबू का प्रवेश । उन्हें देखते ही वह प्रथम स्त्री जो खड़ी थी, पुक्का फाड़कर रो उठती है ।]

स्त्री—सब समाप्त हो गया भैया । आखीर वक्त तक उसकी आँखें खुली ही रह गईं, मानो किसी की प्रतीक्षा कर रही हैं । आज सबेरे ही सब ख़तम हो गया !
[काली बाबू सन्न होकर वहीं ज़मीन पर बैठ जाते हैं । पागलों की-सी हालत हो जाती है । आँखें बिलकुल लाल, सूरत भयावनी, बाल रूखे, कपड़े भी सब अस्त-व्यस्त]

स्त्री—[अत्यंत सहानुभूति से हाथ पकड़कर उठाती हुई] चलो कपड़े बदलो, हाथ-मुँह धोओ । वह तो लक्ष्मी

थी, अब चली ही गई। अब उसके लिए जी छोटा न करो। मर्द बच्चे हो। बहुत देर तक तुम्हारी राह देखी, पर आख़िर में लोग ले ही गये, अब सब लौटते होंगे, क़रीब चार-पाँच घंटे हुए होंगे।

काली बाबू—मामीजी, वह किसी तरह हमें छोड़कर यहाँ आने पर राज़ी नहीं होती थी। मैंने ही ज़बरदस्ती यहाँ भेजा। आख़ीर तक यही कहती थी मुझको क्या हुआ है, अच्छी तो हूँ।

स्त्री—[फिर रोकर] यहाँ भी तो उसका यही कहना था। दवा बड़ी मुश्किल से खाती थी। फिर एकाएक कल सबेरे से तबीअत एकदम बहुत ख़राब हो गई, उसी वक़्त तुमको तार दिया।

काली बाबू—कुछ कहती थी ?

स्त्री—कहती तो क्या थी, प्रलाप बीच-बीच में बकती थी; कभी मुसकुराती, कभी रोती; कोई विनोद बाबू हैं ? दो-एक बार मुसकुराकर आँखें बंद कर 'विनोद बाबू, 'विनोद बाबू' कहा। फिर बोली—'हम तुम्हारी बिन्दी की शीशी बड़े जतन से रक्खे हुए हैं।' बात बिलकुल बे-सर-पैर की थी। मैंने पूछा भी 'बिटिया ये विनोद बाबू कौन हैं।' उसने मुसकुराकर आँखें

बंद कर लीं। फिर थोड़ी देर बाद पूछने लगी 'अभी वे नहीं आये', मैंने कहा, 'बिटिया तार कभी मिल गया होगा, अब आते ही होंगे'। फिर कुछ नहीं बोली, टकटकी लगाये दरवाज़े की ओर देखने लगी और अंतिम घड़ी तक इसी तरह देखती ही रह गई।
[काली बाबू बड़े ग़ौर से, परंतु विक्षिप्त-से सब सुनते हैं, मानो कुछ कहने की सामर्थ्य उनमें नहीं रह गई। इसी समय कुछ लोग बाहर से बरामदे में आते हैं। सब नंगे पाँव और शोकपूर्ण मुद्रा में हैं और गंगा-स्नान कर लौटे हुए जान पड़ते हैं। ये लोग ध्यान से काली बाबू को देखते हैं। इनमें से एक वृद्ध, जो पुरोहित-से लगते हैं, हाथ में एक अस्थि-खंड लिये हुए काली बाबू की ओर अग्रसर होते हैं और बड़ी सहानुभूति से कहते हैं]

पुरोहित—बेटा इसे ले लो, इसे अपने हाथ से ही प्रवाह कर देना। [काली बाबू चित्रलिखे-से उसे ले लेते हैं और पागलों की-सी हालत में वहाँ से चल पड़ते हैं।

दृश्य ७

[स्थान वही दृश्य पाँच का, काली बाबू का क्वार्टर। काली बाबू पागल-से अपने पलँग पर लेटे हैं। बग़ल

में वही अस्थिखंड है। महराज पंखा झल रहा है, बहुत खिन्न है]

महराज—बाबूजी [अस्थिखंड की ओर इशारा करते हुए] ई आप परबाहि नाहीं दिहेनि। शास्तर में कहा है।

काली बाबू—[स्थिर गंभीर स्वर से] महराज, मैं इसे अपने ही पास रक्खूँगा। ज़रा चाबी का गुच्छा तो लाओ। उनके संदूक़ में जहाँ उनकी और सब चीज़ें हिफ़ाज़त से रक्खी हैं, वहीं यह भी रहेगी, सदा हमारे साथ। [महराज चाबियों का गुच्छा देता है, काली बाबू संदूक़ खोलकर एक-एक चीज़ बड़े यत्न से निकाल-निकालकर पलँग पर रखते हैं। चीज़ों में ज़्यादातर कपड़े हैं, जिनमें से अधिकांश पर लाल-लाल बड़े बड़े ख़ून के धब्बे से लगे हुए हैं।] ये कपड़े सब किस तरह ख़राब हो गये—ओह—यह बात है। देखो, यह लाल बिन्दी की शीशी कितनी हिफ़ाज़त से रक्खी हुई थी [शीशी को बड़ी श्रद्धा से निकालकर देखता है। वह बिलकुल ख़ाली है, फिर मानो आप ही आप कहता है] इतनी हिफ़ाज़त से रखने पर भी फिर न जाने कैसे यह गिर पड़ी। [फिर उसी सन्दूक़ में से एक चिट्ठी लिखने का काग़ज़

निकालता है, जिसके ऊपरवाले पन्ने पर एक अधूरी चिट्ठी-सी लिखी हुई है। वह भी बिन्दी के रंग से लथपथ-सी हो रही है। पूरी इबारत पढ़ी नहीं जाती, तो भी वह आप ही आप विक्षिप्त प्रलाप के तौर पर बड़े प्रेम से आँखें फाड़-फाड़कर पढ़ने लगता है]

"मेरे न जाने कौन विनोद बाबू, तुम आने को कहकर फिर क्यों नहीं आये, मैं हर घड़ी तुम्हारी राह देखा करती हूँ। फिर तुम्हें चिट्ठी भी कैसे लिखूँ, तुम्हारा पता तो मालूम नहीं। और फिर किससे पूछूँ तुम्हारा पता। कैसे पूछूँ ?"—इसके आगे पढ़ा नहीं जाता [काली बाबू एकाएक सन्न होकर लेटरपेपर को हाथ में लिये सन्दूक़ बन्द कर देते हैं और मूर्च्छित-से पलँग पर पड़ जाते हैं, आँखें बन्द हो जाती हैं। थोड़ी देर में वह अस्थिखंड उनके दूसरे हाथ से फ़र्श पर आ गिरता है। महराज दीर्घ निःश्वास के साथ कुछ अस्फुट उच्छ्वास-सा करता हुआ बाहर निकल जाता है, मानो यह दृश्य उसके लिए असह्य हो। थोड़ी देर बाद एक बिल्ली उधर से आती है और उस अस्थिखंड को लेकर खेलने-सी लगती है]

यवनिका-पतन

वह फिर आई थी

पात्र

सिद्धिनाथ कविरत्न—एक ख्यातनामा आधुनिक कवि ।

मनोरमा—इनकी पूर्वकाल की प्रेयसी ।

एक साहित्यिक मित्र—एक नौकर ।

[एक सजा-सजाया कमरा जिसे ड्राइंगरूम और ड्रेसिंगरूम दोनों ही कह सकते हैं। कमरे की सजावट में पूर्वीय और पाश्चात्य दोनों ही रीतियों का एक विचित्र सम्मिश्रण-सा दीख पड़ता है। किनारे की ओर स्प्रिंगदार दो आराम कुर्सियाँ लगी हुई हैं। बीचो-बीच सहारनपुरी एक अठपहला छोटा-सा टेबिल है। इस पर बेलबूटे का बढ़िया काम किया हुआ है। ऊपर एक साफ़ टेबिलक्लाथ रक्खा हुआ है। इसके चारों ओर बढ़िया रेशमी काम किया हुआ है और एक कोने में बहुत सुरुचिपूर्ण अक्षरों में कुछ लिखा हुआ-सा जान पड़ता है। ऊपर ताज़े फूलों का एक गुलदस्ता रक्खा हुआ है। दीवारों पर कुछ बड़े बड़े कलापूर्ण चित्र भी टँगे हुए हैं। एक ओर एक तख्त भी रक्खा हुआ है जिस पर गहरे लाल रंग की एक

चमकीली रेशमी-सी चादर बिछी हुई है। तख्त के पाये चौकोर और एक नये ही ढङ्ग के बने हुए हैं। तख्त के सामने दीवार के एक गोटे पर ताण्डवनृत्य में लीन शिव की एक प्रतिमा है। आस-पास कुछ खिलौने रक्खे हुए हैं। हैं तो वे खिलौने, पर सब कला के विविध नमूनों-से जान पड़ते हैं। एक ओर ध्यानमग्न पद्मासनासीन महात्मा बुद्ध की सौम्य मूर्ति भी शोभा पा रही है। कमरे के एक दूसरे कोने में एक छोटी-सी किन्तु बड़ी सुन्दर एक अठपहलू चौकी रक्खी हुई है जिस पर सफ़ेद और पीले रङ्ग के क़रीब आठ दस शङ्ख या घोंघे रक्खे हुए हैं। स्टेज की बाईं ओर दीवार से लगा हुआ एक ड्रेसिंग टेबिल है, जिस पर एक बड़ा ओवल (अंडाकार) शीशा लगा हुआ है। इसके आस-पास प्रसाधन सामग्री सेंट, तेल. सोप पाउडर, फ़ेसक्रीम, हेयर क्रीम. पोमेड आदि आदि के सुन्दर बर्तनों और शीशियों की खासी बहार है। इसी शीशे के सामने एक युवक खड़ा हुआ बालों को ब्रश कर रहा है। युवक की अवस्था ३० से ३५ के बीच में रही होगी। इसका क़द कुछ लम्बा और शरीर इकहरा है। आँखों में सुनहरे रिम का चश्मा है। बाल बहुत बड़े घने कुछ भूरे रंग के और घूँघरदार हैं। वस्त्रों में केवल एक नफ़ीस चुनी हुई ज़रीदार नाखूनी किनारे की धोती और एक बहुत हलके

पीले रंग का रेशमी कुर्ता पहने हुए है। ऊपर से बहुत झक धुली हुई सुनहरी धारियों की किनारीदार एक सफ़ेद चादर भी ओढ़े है। मालूम होता है, अभी अभी कपड़े पहने हैं और कहीं जाने की तैयारी में है। जूता सलीम-शाही गहरे लाल रंग के मख़मल का कामदार पहने है। शरीर कुछ कृश है, और आँखें धँसी हुई, पर बड़ी बड़ी और गम्भीर हैं। वे आधी मुँदी हुई-सी कुछ कुछ स्वप्न-राज्य में विचरण करती हुई-सी जान पड़ती हैं। रंग काफ़ी गोरा है। चेहरे से एक आकर्षक नैराश्यपूर्ण गम्भीरता का भाव टपकता है। शाम होने में अभी कुछ देर है। वह ब्रश कर रहा है, इसी समय साधारण परन्तु ख़ूब साफ़ धुली हुई खद्दर की धोती और कुर्ता पहने हुए एक दूसरा युवक दाहनी ओर से सिद्धिनाथ के पीछे से प्रवेश करता है। इस युवक का शरीर सुदृढ़, रंग साँवला और क़द मझोला है। आगन्तुक सिद्धिनाथ का मित्र है।]

सिद्धिनाथ—[शीशे में मित्र की छाया देख, पलटकर सादर स्वागत करते हुए] आओ, कहो मित्र अच्छे तो हो। तुम भी चल रहे हो न?

मित्र—चल रहे हैं! अजी वहाँ सब लोग पहुँच भी गये और जिसका सम्मान करने के लिए इतना बड़ा

आयोजन किया गया उसका पता भी नहीं ! मैंने इस भय से कि कहीं तुम्हारा हार्ट तो नहीं फ़ेल हो गया, भागा भागा आ रहा हूँ ।

सिद्धिनाथ—भाई, मुझे कुछ अजीब झेंप-सी लग रही है। मैंने साहित्य की कौन-सी ऐसी सेवा की है जो लोगों ने मुझे इस प्रकार सम्मानित करने का निश्चय कर डाला ।

मित्र—अच्छा ख़ैर, आपने कुछ नहीं किया, और मेरी निजी राय तो यह है कि तुमने और कुछ नहीं सिर्फ़ भोले-भाले हिन्दी-भाषा-भाषी सम्प्रदाय की रुचि दूषित कर दी है और इसी के पुरस्कार-स्वरूप तुम्हारे 'आनर' में आज यह बृहद् कवि-सम्मेलन होने जा रहा है।

सिद्धिनाथ—बिलकुल ठीक कहते हो । नवीन युग में यदि कोई कलाकार यश-लाभ करना चाहे तो उसे सर्व-साधारण की रुचि को दूषित कर देने में ही अपनी सारी शक्तियाँ निछावर कर देनी चाहिए ।

मित्र—ठीक, अच्छा यह बताओ, अभी तुम्हें 'ड्रेस' और 'टायलेट' करने में कितने घंटे और लगेंगे । 'फ़िनि-

शिंग टचेज़' अकेले में देना चाहो तो मैं ज़रा अन्तर्धान हो जाऊँ।

सिद्धिनाथ—ज़रा नहीं, बिलकुल हो जाओ। मैं शर्माजी के मोटर के इन्तज़ार में हूँ।

मित्र—[मुसकुराते हुए, कुछ व्यंग्य से] अच्छा तो जनाब मोटर में चलेंगे [उठते हुए] तब मैं चला, नमस्कार।

सिद्धिनाथ—और क्या? 'कविरत्न' हूँ या मज़ाक! तुम चलो, कह देना मैं दस मिनट में पहुँचता हूँ।

[मित्र हँसता हुआ बाहर चला जाता है। सिद्धिनाथ भी हँसता हुआ कुछ उत्तेजित-सा हो एक बार फिर कंघी और ब्रश लेकर शीशे के सामने खड़ा होता है। परन्तु शीशे के सामने होते ही सहसा ठिठक कर रुक जाता है और बालों तक पहुँचा हुआ उसका कंघी-वाला हाथ वहीं ज्यों का त्यों रुक जाता है। उसे शीशे में पीछे की ओर से आई हुई एक युवती की छाया दिखाई पड़ती है। उस युवती की अवस्था २२ साल से अधिक नहीं कही जा सकती, पर चेहरे के पीलेपन और मुर्दनी से साफ़ जान पड़ता है कि अभी किसी लम्बी बीमारी से उठी है। उसका शरीर बहुत कृश और केश कुछ रूक्ष और निर्जीव-से जान पड़ते हैं। पर उसके नेत्रों में विचित्र तेज तथा असाधारण ज्योति की एक लोकोत्तर आभा-सी फूट

कर निकलती हुई जान पड़ती है। उसका क़द साधारण से कुछ अधिक लम्बा तो है ही, पर इस अत्यधिक कृशता के कारण उसकी लम्बाई कुछ बेडौल-सी भी मालूम होती है। सिद्धिनाथ बहुत धीरे-धीरे सिर पर से कंघीवाला हाथ उतार कर उसे एक ओर रखता है और कुछ अवाक् और हतबुद्धि-सा घूमकर आगंतुक की ओर होता है। इतने से ही काम में उसे मानो सालों लग जाते हैं।]

सिद्धिनाथ—[मानो ज़बान खोलने में उसे काफ़ी तकलीफ़ हो रही है] तुम ? फिर कुछ प्रकृतिस्थ होकर और अपेक्षाकृत स्वाभाविक रीति से] एकाएक तुम किधर से ?

आगंतुक—[अत्यन्त क्षीण स्वर से मानो बहुत दूर से आवाज़ आ रही है] चली आई।

सिद्धिनाथ—[मानो उसकी कमज़ोरी का ख़याल करके पास की कमानीदार कुर्सी की ओर बैठने का इशारा करते हुए] अच्छा बैठ तो जाओ !

आगंतुक—नहीं, बैठूँगी नहीं, अब मैं जा रही हूँ।

सिद्धिनाथ—यह क्या ? कैसे आई और कैसे चल दीं ?

आगंतुक—बस, तुम्हें एक बार देखना था। देख चुकी, अब चली।

सिद्धिनाथ—इतने दिनों के बाद सिर्फ़ इसी लिए आई थीं! छः बरस से कम न हुए होंगे।

आगंतुक—जो हो, पर आई थी सिर्फ़ तुम्हें एक बार देखने के लिए ही।

सिद्धिनाथ—अच्छा देखने ही आई थीं तो थोड़ा बैठो भी। कुछ देर देखो। क्या पल भर निगाह मिलाने से ही देखना ख़त्म हो जाता है?

आगंतुक—तुम कहीं बाहर जाने को तैयार मालूम हो रहे हो। तुम्हें देर हो जायगी।

सिद्धिनाथ—होने दो। आज इतने दिनों के बाद तो तुम्हारी सूरत देखने को मिली, तिस पर भी इतनी उतावली।

आगंतुक—तुम्हारे काम का हर्ज तो न होगा हमारे बैठने से?

सिद्धिनाथ—आज इतने दिनों के बाद आकर भी ये सब कैसी बातें कर रही हो मनोरमा?

मनोरमा—[मानो क्षण भर के लिए उसके चेहरे पर सुख की एक लहर दौड़ जाती है] फिर।

सिद्धिनाथ—क्या फिर?

मनोरमा—फिर बुलाओ मेरा नाम लेकर।

सिद्धिनाथ—अच्छा मैं तुम्हारे नाम पर एक बहुत अच्छी कविता लिखूँगा, बैठो।

मनोरमा—नहीं, कविता अभी रहने दो। तुम सिर्फ़ हमारा नाम लेकर पुकारो।

सिद्धिनाथ—[सकौतुक कुछ क्षण उसकी ओर एकटक देखते हुए] अच्छा लो—मनोरमा—रमा रमा—

[मनोरमा के रक्तशून्य कपोलों पर मानो क्षण भर के लिए एक हलकी गुलाबी रंगत दौड़ जाती है। किसी लोकोत्तर के आनन्द से पल भर के लिए उसके नेत्र अधरों पर मुस्कुराहट की एक क्षीण रेखा के साथ मुँद जाते हैं। फिर वह धीरे धीरे पास की कुशनदार कुर्सी पर बैठ जाती है। सिद्धिनाथ भी एक कुर्सी उसके पास खींच कर बैठ जाता है और एकटक मनोरमा के चेहरे को देखता रह जाता है। कुछ देर तक दोनों निस्तब्ध रहते हैं। मनोरमा धीरे धीरे आँख खोलती है और सिद्धिनाथ को इस प्रकार निर्निमेष नेत्रों से अपनी ओर देखता पाकर कहती है]

मनोरमा—[कुछ दिलचस्पी के साथ] तुम क्यों मुझे इस तरह घूर रहे हो?

सिद्धिनाथ—[दूसरी ओर दृष्टि कर कुछ सोचने लगता है, फिर एकाएक] तुम ठहरी कहाँ हो?

मनोरमा—[मानो प्रश्न का अर्थ न समझकर] ठहरी कहाँ हूँ, और फिर ठहरूँगी ही कहाँ ?

सिद्धिनाथ—[कुछ हतप्रभ-सा होकर] अच्छा तो तुम शायद अभी सीधे यहीं चली आ रही हो ?

मनोरमा—यहाँ अर्थात् ?

सिद्धिनाथ—[कुछ रुक रुककर] यहाँ, यानी इलाहा-बाद में।

मनोरमा—हाँ, यहीं आ रही हूँ सीधे।

सिद्धिनाथ—सामान वग़ैरह कहाँ छोड़ा ?

मनोरमा—सामान मेरा कुछ नहीं है।

सिद्धिनाथ—बिलकुल कुछ नहीं ?

मनोरमा—नहीं, बिलकुल कुछ नहीं।

सिद्धिनाथ—[आश्चर्य से कुछ देर चुप रहने के बाद धीरे धीरे नीचे सिर किये हुए मानो अपने से ही कह रहा हो] आज छः छः बरस होने को आये, मगर इस बीच में कहीं कुछ खबर नहीं, एक चिट्ठी तक नहीं। यह वही मनोरमा है, जिससे परिचित हो मैं सारे संसार को भूल गया था, रात रात भर, दिन दिन भर जिसकी एक एक बात सोचता रह जाता था। वही मनोरमा एकाएक आज मेरे सामने बैठी हुई है। साथ में एक धोती तक नहीं ! आख़िर इसका मतलब

क्या [धीरे धीरे सिर उठाकर मनोरमा की ओर देखता हुआ] किसी को साथ भी लाई हो या ऐसी ही ?

मनोरमा—ऐसी ही ।

सिद्धिनाथ—इतना लम्बा सफ़र अकेले करने में तुम्हें कोई डर नहीं मालूम हुआ ?

मनोरमा—कुछ भी नहीं ।

सिद्धिनाथ—तुम्हारा यहाँ का आना तुम्हारे घर के लोगों को मालूम है ?

मनोरमा—हाँ, सब जानते हैं ।

सिद्धिनाथ—[कुछ सोचने के बाद] अच्छा, मगर तुम्हारी अनुपस्थिति में तुम्हारे पतिदेव को कुछ असुविधायें तो होंगी ही ।

मनोरमा—[अनमनी-सी] उहँ, होंगी शुरू में कुछ दिनों तक फिर धीरे धीरे आप ही सब भूल जायँगे ।

सिद्धिनाथ—[फिर कुछ देर तक दोनों हाथों पर सिर रख कर गम्भीर चिंता में मग्न होने के बाद] अच्छा एक बात पूछूँ, बताओगी मनोरमा ?

मनोरमा—[ईषत् हास्य से] पूछो ।

सिद्धिनाथ—क्या तुम हमारे साथ रहने की इच्छा से ही यहाँ आई हो ?

मनोरमा—[ईषत् हास्य] आई तो मैं थी सिर्फ़ एक बार तुम्हें देख लेने भर के लिए, पर तुम चाहो तो रह भी जा सकती हूँ तुम्हारे साथ।

[सिद्धिनाथ कुछ क्षणों के लिए एक-दम सन्नाटे में आ जाता है। मनोरमा अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ कुछ देर तक उसकी ओर देखती रह जाती है और फिर धीरे धीरे कहती है]

मनोरमा—[एकाएक गंभीर होकर] सिद्धिनाथ!

सिद्धिनाथ—[मानो नींद से चौंक कर] क्या कहती हो मनोरमा?

मनोरमा—तुम्हें उस दिन की बात याद है?

सिद्धिनाथ—कब की बात कह रही हो?

मनोरमा—वही उस रात की।

सिद्धिनाथ—[मुखमंडल एकाएक आरक्त हो जाता है, नीचे देखने लगता है और फिर कुछ रुककर] अब उसकी याद क्यों दिला रही हो?

मनोरमा—उसका प्रयोजन है। तुमने उस रात को मुझे अपने पास रोक रखने का प्रबल आग्रह किया था। तुमने बड़ी विनती की थी। मैं अपना हाथ छुड़ाकर चली गई थी। चलते चलते मैं वादा कर गई

थी, 'फिर आऊँगी'। उस वक्त मैं अपना वादा पूरा नहीं कर सकी थी। आज फिर आई हूँ।

[सिद्धिनाथ दोनों हथेलियों पर ठुड्डी का भार रक्खे हुए एकटक इस प्रकार मनोरमा की ओर देख रहा है, मानो उसके सामने साक्षात् महादेवी उतर आई हो। धीरे धीरे उसकी [सिद्धिनाथ की] आँखें आँसुओं से भर आती हैं। वह एकाएक उठकर पीछे की तरफ़ की खुली खिड़की के पास चला जाता है और मनोरमा की ओर पीठ करके चादर से आँसुओं को खूब पोंछ डालता है। फिर धीरे धीरे आकर अपनी जगह बैठता है और बात का रुख़ बदलने के अभिप्राय से कहता है]

सिद्धिनाथ—तुम बहुत थक गई होगी मनोरमा, चलो कुछ पानी-वानी पी लो।

मनोरमा—नहीं, मुझे अब किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

सिद्धिनाथ—इतने लम्बे सफ़र से आई, और किसी चीज़ की ज़रूरत भी नहीं है। अच्छा यहीं लाता हूँ [उठने को होता है, मनोरमा हाथ से रोककर कहती है]

मनोरमा—बैठो, जल्दी क्या है? होता रहेगा।

सिद्धिनाथ—[बैठकर] तुमने आने से पहले एक कार्ड भी नहीं डाल दिया, नहीं तो—

मनोरमा—[एकाएक मानो कुछ स्मरण कर] लिखा तो था मैंने ! क्या तुम्हें मिला नहीं ?

सिद्धिनाथ—नहीं तो, शायद किसी वजह से रुक गया हो, ख़ैर, अब कार्ड क्या होगा ? अब तो तुम्हीं आ गई हो। पर मनोरमा अब तुम्हें जाने न दूँगा। कई बार तुम आ आकर चली गई हो और तुम्हारे चले जाने पर मुझे मृत्यु से भी अधिक कष्ट सहना पड़ा है, पर अब नहीं।

मनोरमा—मृत्यु का कष्ट तुम्हें क्या मालूम ? सुनोगे वह कष्ट कैसा होता है ?

सिद्धिनाथ—ज़रूरत नहीं है, मुझे उसका काफ़ी अनुभव हुआ है……कई बार हुआ है।

मनोरमा—नहीं, तुम नहीं समझ सकते। मृत्यु-यंत्रणा क्या चीज़ है, मैं बतलाती हूँ, सुनो।

सिद्धिनाथ—अच्छा कहो—

मनोरमा—मैं बहुत बीमार थी, यह तो तुम्हें मालूम ही है।

सिद्धिनाथ—यह तो तुम्हारी आकृति से ही स्पष्ट है। जान पड़ता है कि किसी असाध्य बीमारी से उठी हो।

मनोरमा—सुनो भी। जब मेरी बीमारी बहुत बढ़ गई तब डाक्टरों ने परामर्श से यह स्थिर किया कि लिवर का आपरेशन करना होगा। मुझे क्लोरोफ़ार्म सुँघा-कर बेहोश किया। इसके बाद क्या-क्या हुआ, मुझे कुछ ख़बर नहीं। होश आने पर मालूम हुआ, अब मैं अच्छी हूँ। पर इसके थोड़ी ही देर बाद एक अजीब तमाशा शुरू हुआ। धीरे-धीरे ऐसा मालूम हुआ मानो पैरों में एक अजब तरह की ठंड-सी लग रही है। थोड़ी हिलने-डुलने की कोशिश की तब जान पड़ा पैर अब हिल नहीं सकते। और फिर धीरे-धीरे वह ठंड ऊपर की ओर बढ़ती आ रही थी। अब घुटनों तक पहुँची और फिर कमर तक। मेरा आधा शरीर मानो लकड़ी का हो गया। इस बात को कई बार चिल्ला-चिल्लाकर कहा—कमरा लोगों से भरा हुआ था– पर मानो किसी ने सुना ही नहीं। हाथ से इशारा करने की इच्छा की, पर मालूम हुआ कि हाथ अब नहीं उठ सकते, उँगलियाँ भी नहीं हिल सकतीं। फिर वही ठंड गले में लगी। फिर कैसा मालूम हुआ, जानते हो? मरण-यातना किसे कहते हैं, वह तुम क्या समझोगे सिद्धिनाथ? वह मैं समझती हूँ।

सिद्धिनाथ—[निर्निमेषरूप उसकी दृष्टि में अपनी दृष्टि गड़ाये हुए] अब मैं तुम्हें पल भर के लिए अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दूँगा मनोरमा! देखूँ, तुम अब कैसे जाती हो।

मनोरमा—[तेज़ी से सिद्धिनाथ के बग़ल से होकर दरवाज़े पर पहुँच कर] तुम मुझे रोक कर क्या करोगे सिद्धिनाथ? मैं तुम्हें एक बार सिर्फ़ देख चली।

[यह कहती हुई वह मानो एक स्वर्गीय दृष्टि से जिसमें आनन्द और करुणा के सिवा और कुछ नहीं है—सिद्धिनाथ को देखती हुई पीछे हटती है। सिद्धिनाथ लपक कर मानो अपनी दोनों भुजाओं के बीच उसे आबद्ध कर लेना चाहता है। पर उसकी भुजायें मानो शून्य को आलिंगन करती हैं और वह अपना बोझा न सँभाल कर वहीं धड़ाम से गिर पड़ता है]।

सिद्धिनाथ—[गिरते ही मानो मार्मिक यंत्रणा से संतप्त हो चिल्ला पड़ता है] मनोरमा—रमा—रमा—

[ठीक इसी समय उसका वही साहित्यिक मित्र और उसके पीछे पीछे सिद्धिनाथ का नौकर हाथ में एक पोस्टकार्ड लिये हुए कमरे में दाखिल होता है। नौकर एक १६ वर्ष का लड़का-सा है और साफ़ कपड़े पहने है।

दोनों सिद्धिनाथ को इस अवस्था में पाकर घबरा-से जाते हैं और कुछ देर तक किंकर्त्तव्य-विमूढ़-से खड़े रह जाते हैं। फिर वह मित्र हाथ का सहारा देकर सिद्धिनाथ को उठाता है। सिद्धिनाथ मानो स्वप्नावस्था में उठकर मित्र के सहारे चलकर सबसे पास की कुर्सी पर गिर-सा पड़ता है और दोनों हाथों से सिर ढँक कर किसी गहरी चिंता में डूब जाता है।]

मित्र—कहो भई, हुआ क्या? अभी तो अच्छे थे। किसका नाम लेकर चिल्ला रहे थे? यह मनोरमा कौन है?

[सिद्धिनाथ धीरे धीरे सिर उठाकर एक बार शून्य दृष्टि से मित्र की ओर देखता है, पर तुरन्त ही फिर पूर्ववत् हो जाता है]

मित्र—वहाँ पहुँचते ही लोगों ने फिर दौड़ाया, कहा, साथ लेकर आओ, बड़ी देर हो रही है।

नौकर—साहब अभी अभी डाकिया यह ख़त डाल गया है।

सिद्धिनाथ—रख दो उधर [फिर मानो आप ही आप] मैं जानता हूँ वह चिट्ठी। [फिर मित्र से] ज़रा पढ़कर सुनाओ तो।

मित्र—[चिट्ठी लेकर कुछ देर तक निश्शब्द पढ़ने की कोशिश कर] अजीब ख़त है। सिर्फ़ एक लाइन

है—"मैं बहुत बीमार हूँ—तुम्हें एक बार देखने की इच्छा होती है। अगर हो सके तो आओ—मनोरमा"—बस

सिद्धिनाथ—[शून्य दृष्टि से ऊपर की ओर देखते हुए] मैं कहाँ आ सका मनोरमा ? इसके पहले तो तुम्हीं एक बार फिर आई थीं।

मित्र—भाई, आखिर यह मामला क्या है ? मैं कुछ समझ नहीं रहा हूँ।

सिद्धिनाथ—फिर कभी समझना।

मित्र—अच्छा तो चलो।

सिद्धिनाथ—चलो।

[दोनों धीरे धीरे उठते हैं, सिद्धिनाथ चित्र-लिखित-सा मित्र के साथ साथ उठकर उसके कंधे का मानो सहारा लिये हुए दरवाज़े की ओर बढ़ता है। पर्दा गिरता है।]

परदे का अपर पार्श्व

नाटक के पात्र

रमेशचन्द्र एम० ए०, एल-एल० बी०—एक उदीयमान और सफल एडवोकेट; अवस्था ३५ वर्ष ।

शिवराम दुबे—एक ज़मींदार साहब का गुमाश्ता, अवस्था ६० वर्ष ।

मुहम्मदहुसेन—वकील साहब का ड्राइवर ।

रामेश्वरसिंह—वकील साहब का बाल्य बन्धु और सहपाठी; अवस्था ३४ वर्ष ।

प्रथम दृश्य

समय सायंकाल ६ बजे

[नये, परन्तु सफल वकील रमेश बाबू के आफ़िस का कमरा। कमरे के दो ओर मोटी काली जिल्दोंवाली प्रायः एक ही आकार की पुस्तकों से भरी हुई बड़ी-बड़ी आलमारियाँ लगी हुई हैं और सुनहले अक्षरों में शायद पुस्तकों के नाम लिखे हुए हैं। बीचोंबीच एक बड़ा-सा सेक्रेटरियट टेबल रक्खा हुआ है, जिस पर एक में बहुत-सी फ़ाइलें भरी पड़ी हैं। और भी बहुत-से काग़ज़-पत्र प्रायः अस्त-व्यस्त रूप से उस पर पड़े हैं। टेबल के एक ओर एक बड़ा-सा रिवाल्विंग अलमेरा लगा हुआ है और उसमें भी रंगबिरंगी जिल्दोंवाली

मोटी-मोटी बृहद् आकार की बहुत-सी पुस्तकें रक्खी हुई हैं। स्टेज के सामने टेबल के पीछे एक एडिटोरियल कुर्सी पर एक सज्जन बैठे हैं। इनकी अवस्था लगभग ३५ वर्ष, शरीर का आकार मँझोला और रंग काफ़ी गोरा है। आप सफ़ेद पैंट और हरा ब्लेज़र कोट पहने हुए हैं। टेबल पर एक ओर एक टेनिस रैकेट रक्खा हुआ है। मालूम होता है, आप अभी-अभी टेनिस खेलकर लौटे हैं। शरीर भी आपका कुछ इस तरह का सुगठित और सुडौल-सा है, जिससे आप एक रियाज़ी खेलाड़ी जान पड़ते हैं। चेहरे का भाव यद्यपि कुछ अस्वाभाविक रूप से गम्भीर है, पर आपके भरे हुए और कुछ खिले से ओठ और मांसल कपोल साफ़ बतलाते हैं कि आपमें अभी नवयुवकोचित रसिकता और मिठास का नितांत अभाव नहीं हो पाया। आँखें काफ़ी धँसी हुई और स्थिर होने पर भी आप कोरे दार्शनिक या वणिक् ही नहीं मालूम होते। उनके कोनों में कभी-कभी एक सुश्री चंचलता दौड़-कर शांत हो जाती है, जिससे असाधारण प्रतिभा या निराश प्रेम, दोनों ही का सामंजस्य-सा झलकता है। आपके बग़लवाली कुर्सी पर एक दूसरे नव-युवक सज्जन बैठे हैं। यह भी टेनिस की पोशाक में

हैं; फ़र्क़ इतना ही है कि आपका ब्लेज़र गहरे नीले रंग का है, जिसका एकमात्र बटन खुला हुआ है। नीचे सफ़ेद और गहरे लाल रंग के बार्डरवाला एक पुल ओवर दिखाई पड़ रहा है, जिसका बेतुकापन साफ़ कह रहा है कि वह घर के और किसी नौसिखिये हाथ की करामात है। इनका शरीर तो लाँबा और दुबला है, पर कलाई काफ़ी चौड़ी है। इनके बैठे गाल, धँसी आँखें और निस्तेज रंग एक ही कहानी कहते हैं—या तो यह कोई कम-से-कम पाँच सेट सिंगल्स खेलनेवाले व्यवसायी खिलाड़ी हैं या कोई 'क्रानिक केस' [दीर्घ-रोगी]। फ़िलहाल आप अपने हाथवाले रैकेट की ताँत की बड़े ग़ौर से परीक्षा-सी कर रहे हैं। यह रमेश बाबू के बाल्य बंधु रामेश्वरसिंह हैं।]

रामेश्वरसिंह—[बल्ले की गटों को सुरमण्डल बाजे की तरह छेड़कर एक विचित्र झंकार-सी पैदा करते हुए] अँगरेज़ी गटों में एक ख़ास ख़राबी यह होती है कि ये इण्डियन कण्डिशंस को सूट नहीं करते।

रमेशचन्द्र—बात यह है कि आप लोग अँगरेज़ी गट [ताँत] का इस्तेमाल और उसकी हिफ़ाज़त नहीं जानते। लास्ट इयर मैं सीज़न भर अँगरेज़ी गट से

खेला [अपने बल्ले की गट को दबाकर बजाते हुए] और अभी तक ठीक हालत में है।

रामेश्वरसिंह—हो सकता है, मगर आप खेलते ही कितना हैं। किसी दिन कोई आया और वकालत की नज़ीरों और मिसलों में से हज़रत को निकालकर क्लब तक घसीट ले गया तब तो आपके बल्ले को प्रेस में से निकलने की नौबत आती है। कहाँ तो कुछ बरस पहले यह हाल था कि ढाई बजते-न-बजते हुज़ूर नेट-पर हाज़िर हो जाते थे। मार्कर भी अक्सर तब तक नहीं पहुँच पाता था। कभी-कभी तो माली खाना-वाना खाकर एक चिलम तम्बाकू भी नहीं पीता था कि तुम्हारी डाँट पड़ जाती थी—बदमाश ने अभी तक नेट [जाल] नहीं खड़ा किया।

रमेशचन्द्र—[उदासी-मिश्रित गम्भीरता से] वे दिन और थे।

रामेश्वरसिंह—[ईषत् हास्य के साथ] आज-कल के इस युग में अतीत स्त्री-प्रेम ने किसी के जीवन पर अगर स्थायी प्रभाव डाला है तो वह तुम हो।

रमेशचन्द्र—[कुछ बनावटी रोष से] बिलकुल नहीं, तुम लोग झूठ-मूठ मुझे बदनाम करते हो। आज ६-६ बरस होने को आये, किसी ने उर्मिला का नाम

भी मेरे मुँह से सुना है या अपना काम छोड़कर किसी की याद में स्वप्न-राज्य में विचरण करते ही देखा है ?

रामेश्वरसिंह—[कुछ देर ग़ौर से रमेशचन्द्र के मुख का भाव परखकर अति गम्भीर भाव से] हमने माना कि जब से उर्मिला की शादी हुई और उसने इस बेवफ़ाई से तुम्हारे संपूर्ण प्रेम को ठुकराकर उस ग्रेजुएट ज़मींदार को स्वीकार किया, तब से तुमने कभी उसका नाम भी नहीं लिया; उसकी चिट्ठियों का कभी जवाब भी नहीं दिया और न उससे मिलना ही कभी पसंद किया। हालाँ कि यह सभी जानते हैं कि उसने तुमसे एक बार फिर मिलने की चेष्टा में कोई बात उठा नहीं रक्खी और बराबर चिट्ठियाँ भेजती गई,—मगर—

रमेशचन्द्र—मगर क्या ? शुरू में तो मैंने दो-एक चिट्ठियाँ उसकी पढ़ी भी थीं, फिर तो बिना पढ़े ही जला दिया करता था।

रामेश्वरसिंह—मुझे सब मालूम है। उन दो-एक चिट्ठियों को तुमने मुझे भी पढ़कर सुनाया था, और मेरे हज़ार मना करने पर भी तुमने कई चिट्ठियाँ मेरे सामने जलाईं—मगर—

रमेशचन्द्र—[अर्थपूर्ण दृष्टि से रामेश्वरसिंह का भाव टटोलते हुए] फिर वही मगर; आख़िर तुम्हारा मतलब क्या है ?

रामेश्वरसिंह—[लापरवाही से] मतलब-वतलब कुछ नहीं, चकमा किसी और को देना। [यकायक बहुत गंभीर होकर] तुम ज़्यादा-से-ज़्यादा यह कह सकते हो कि उससे अब घृणा करते हो—अपने शरीर के रक्त की प्रत्येक बूँद से जैसे उसे कभी प्यार किया था, वैसे ही अब घृणा करते हो। बस, अगर तुम यह कहना चाहते हो कि तुम उसे भूल गये या अपनेपन से तुमने उसे एकदम अलग कर दिया तो मैं तुमको एक बहुत बड़ा हिपोक्रिट [बनने-वाला] कहूँगा। तुम्हारे प्रत्येक रोम पर अब भी उसका वैसा ही अधिकार है—यद्यपि इस अधिकार की क्रिया अब दूसरे रूप में हो रही है। तुम्हारा एक-एक दिन का प्रत्येक कार्य अब भी उससे प्रभावित है—पहले की अपेक्षा कहीं अधिक वेग से प्रभावित है, सिर्फ़ उसका पहलू बदल गया है।

रमेशचन्द्र—[एक अत्यन्त करुण और म्लान मुस्कुराहट के साथ] रामेश्वर, ज़रा अपने को और तो स्पष्ट

करो। शायद तुम मानव-हृदय के एक कोमलतम तार को छोड़ने की चेष्टा करने जा रहे हो।

रामेश्वरसिंह—[उसी भाव से] अधिक स्पष्ट करना व्यर्थ है। मेरा मतलब तुम ख़ूब समझ गये हो। तो भी इतना याद रक्खो [रामेश्वर के खोखले गाल यकायक कुछ तमतमा-से उठते हैं और आँखें दीप्त-सी हो उठती हैं] वास्तविक प्रेम कभी मिटता नहीं, चाहे उसका पात्र या पात्री जघन्य-से-जघन्य आचरण क्यों न करे। सिर्फ़ एक प्रकार का पट-परिवर्तन-मात्र हो जाता है। पट के दोनों ही ओर जीवन की सामग्री है और दोनों ही का दर्जा बराबर का है। फ़र्क़ इतना ही है कि एक ओर अगर प्रेम के दृश्य या करिश्मे हैं; तो दूसरी ओर घृणा के। एक तरफ़ अगर प्रेम है, तो दूसरी ओर घृणा। पहला जितना चित्र-विचित्र और गहरा होता है, दूसरे को भी ठीक वैसा ही होना पड़ेगा। यह असम्भव है कि रोशनी पड़ने पर रंगीन परदे का एक पार्श्व चित्रित और दूसरा बिलकुल कोरा दिखलाई पड़े। दूसरे शब्दों में, यह असम्भव है कि जिसे सचमुच प्यार कर चुके हों, उसके प्रति किसी भी परिस्थिति में एकदम निर्विकार या निर्लिप्त हो जायं। और, यदि ऐसा हो जाय तो

उसका अर्थ यह होगा कि वह सचमुच प्यार या प्रेम नहीं था; कोई और ही चीज़ रही होगी, आप मुफ़्त में प्रेम का नाम बदनाम कर रहे हैं।

रमेशचन्द्र—[विस्फारित नेत्रों से अपने मित्र की ओर एकटक देखते हुए, पर एक साथ ही कुछ उपहास के साथ] शाबास! यह तो तुम प्रेम की एक अच्छी ख़ासी फ़िलासफ़ी बघार गये। मगर तुम्हारे तर्कों में सिर्फ़ एक कमज़ोर कड़ी है। तुम्हारी बातें ठीक हैं; पर ऐसा तभी होता है, जब दोनों ओर से तल्लीनता की मात्रा किसी समय समान रही हो। पर मुझे हुआ धोका, मैं सोते से चौंकाया गया। मुझे बेवकूफ़ बनाया गया था, और सो भी बड़ी बेरहमी के साथ।

रामेश्वरसिंह—[दृढ़ता से] नहीं, तल्लीनता या अनुराग जिसे कहते हैं, वह यकतरफ़ा हो ही नहीं सकता। तुम्हें धोका दिया समाज ने, या परिस्थितियों ने, या मनुष्यता ने। चाहे किसी ने दिया हो, पर उसने नहीं। अगर ज़िंदा रहे तो कभी इसका सबूत पा लोगे।

रमेशचन्द्र—[उठते हुए, बनावटी आश्चर्य के भाव के साथ] ओफ़ ओह! रोमांस का इतना पका-पकाया अनुभव! हो पुराने खिलाड़ी [यकायक कुछ गम्भीर

होकर] मगर इतना हमसे भी सुन लो। अगर प्रेम में इन चीज़ों का—जिनका नाम तुम अभी गिना गये हो, यानी समाज, परिस्थितियाँ और मनुष्यता का—बाँध तोड़ने की शक्ति नहीं, तो वह प्रेम नहीं, छल है। खैर, देखा जायगा।

रामेश्वरसिंह—अब यहाँ से दूसरा सवाल पैदा हो जाता है। मगर मैं अपनी पहली बात पर अड़ा रहूँगा और ज़िन्दा रहा तो कभी दिखला दूँगा कि मैं सही था। खैर, अब यह बहस छोड़ो। जा कहाँ रहे हो? आज तो क्लब से सीधे सिनेमा चलने की ठहरी थी न? तुमने कहा था, ज़रा घर हो लें फिर चलेंगे, भूल गये [मुसकराता हुआ] इतनी जल्दी?

रमेशचन्द्र—[भूल स्वीकारवाली मुस्कुराहट के साथ] अरे हाँ! अच्छा तुम ज़रा मुहम्मदहुसेन को गाड़ी लेकर बरसाती में आने को कहो; मैं इसी बीच में ज़रा चेंज किये [कपड़े बदले] लेता हूँ।

रामेश्वरसिंह—ये लो, इतने एब्सेंट माइंडेड [भुलक्कड़]। अरे क्लब से आकर तुम्हीं ने न उसे बरसाती में रुकवाकर कहा था 'जाना मत, अभी बायस्कोप चलना है' और भूल गये!

रमेशचन्द्र—[असमंजस के साथ मुसकराकर] सच ? अच्छा तो बैठो अभी आया। [रमेश का बग़ल के कमरे में सवेग प्रस्थान]

रामेश्वरसिंह—[जाते हुए रमेश को लक्ष्य करके कुछ झुँझलाहट से गर्दन नीची करते हुए दार्शनिकों-वाली एकांगी मुस्कुराहट के साथ] हुँः! दावा तो यह कि उसे मन से निकाल दिया, पर हालत यह।

परदा

द्वितीय दृश्य

[समय प्रातः ६ बजे]

[रमेश बाबू अपने उसी आफ़िसवाले कमरे में मिसलों, क़ानूनी किताबों और कचहरी के काग़ज़ात के बीच में बैठे हुए एकाग्रचित्त से कोई टाइप किया हुआ पुलिंदा पढ़ रहे हैं और मोटी लाल पेंसिल से कहीं-कहीं निशान या लकीर खींचते जा रहे हैं। स्टेज के दाहिनी ओर-वाले दरवाज़े से नाक की नोक पर ऐनक लगाये हुए एक कुबड़ा मुन्शी बीच-बीच में कुछ काग़ज़ात और रख जाता है। इसी समय एक वृद्ध कमरे में प्रवेश करते हैं। आपकी उमर साठ से कम न होगी। पहनावे से पुराने ढंग के रईसों के गुमाश्ते मालूम होते हैं। एक रुईदार

चुस्त पाजामा काले रंग का और उसी की अचकन, सिर पर एक सफ़ेद पगड़ी और हाथ में एक छड़ी। मगर शरीर की अकड़ अब भी जवानों की तरह है और चाल भी दृढ़ गंभीर। यों तो 'क्लीन शेव' यानी दाढ़ी मूछ नदारद हैं, पर चेहरे पर दृष्टि पड़ते ही स्पष्ट हो जाता है कि कई दिन से हजामत नहीं बनी। कुछ गंभीर चिंता तथा आशंका के भाव भी साफ़ हैं। कमरे में आते ही जिस भाव. से आप बैठकर जल्दी-जल्दी जेब से कुछ काँपते हाथों से एक ख़त ढूँढ़ निकालते हैं उससे आप काफ़ी अस्तव्यस्त और परेशान मालूम होते हैं। वकील साहब काम में इस बेतुके विघ्न का मानो कुछ अर्थ न समझकर एक आश्चर्य की दृष्टि से, पर शांतभाव से वृद्ध की सब हरकतें देखते जा रहे हैं। स्पष्ट है कि रमेश बाबू के आफ़िस रूम में यह अपने ढंग का शायद प्रथम दृश्य है और वह अभी इसका अर्थ ही नहीं समझ रहे हैं।]

रमेशचन्द्र—[वृद्ध को इस परेशानी के साथ दोनों जेबों में ख़त टटोलते देखकर कुछ कठोर मुद्रा के साथ] आपको दरवाज़े पर कोई आदमी नहीं मिला ?

वृद्ध—[पहले मानों सुना ही नहीं, पर इसी बीच जेब में ख़त पाकर, उसे दाहिने हाथ में लेकर और यह देख कि यह वही ख़त है जिसे वह खोज रहे थे, कुछ

प्रकृतिस्थ होकर कुछ क्षमा-याचना के भाव से] माफ़ कीजिएगा, आपके मुन्शीजी ने पहले ही मेरा कार्ड माँगा था, पर मैं इतनी जल्दी में था कि इतनी देर भी बर्दाश्त नहीं थी। ख़ैर, ज़रा यह ख़त तो देखिए।

रमेशचन्द्र—[एक अत्यंत क्रूर और हृदयहीन उदासीनता के भाव से उनकी ओर देख लापरवाही से ख़त को हाथ में लेते हुए] ख़ैर आप हैं कौन और कहाँ से तशरीफ़ लाये हैं ?

वृद्ध—[ज़रा आश्चर्य से] मैं—मुझे लोग शिवराम दुबे कहते हैं। अधिकतर लोग 'दुबेजी' कहकर ही पुकारते हैं। मैं यहाँ के ज़मींदार बाबू भगवानदासजी का, जो यूनिवर्सिटी के एक प्रोफ़ेसर भी हैं, गुमाश्ता हूँ। ख़ैर, यह चिट्ठी तो पढ़िए, उसी से आपको सब मालूम हो जायगा।

रमेशचन्द्र—[मानों वृद्ध की बेहूदगी को लाइलाज मान-कर ओठ के एक कोने को टेढ़ाकर नैराश्य के भाव से सिर हिलाते हुए लिफ़ाफ़ा खोलते हैं और एक दृष्टि में ही पूरा ख़त पढ़कर वृद्ध के आगे फेंककर] आप ग़लत जगह आये हैं, ख़त मेरा नहीं है।

दुबेजी—[मानों आकाश से गिरकर कुछ देर आँखें फाड़-फाड़कर उनकी ओर देख लेने के बाद]

ऐसा भला कैसे हो सकता है ? आप ही न बाबू रमेशचन्द्र—

रमेशचन्द्र—हाँ मेरा नाम ज़रूर यही है, पर मेरा ख़याल है कि आपको इसी नाम के किसी डाक्टर के पास भेजा गया है। मैं वकील हूँ।

दुबेजी—[ज़रा सकपकाकर] जी, मैं वकील रमेशचन्द्र के पास ही भेजा गया हूँ और ठीक जगह ही आया हूँ।

रमेशचन्द्र—[एक उपेक्षा की मुस्कुराहट के साथ कंधे उचकाते हुए] आप मेरे पास ख़ुशी से आइए; पर साथ में मुक़द्दमे के ज़रूरी काग़ज़ात लाना कभी मत भूलिएगा। हो सका तो मुक़दमा जिता दूँगा।

दुबेजी—[कुछ अवाक् से] आपने—क्या—अच्छा इस चिट्ठी को पढ़कर आपने क्या समझा ?

रमेशचन्द्र—[फिर एकाग्रचित्त से सामनेवाला काग़ज़ देखने लग जाते हैं और पेंसिल हाथ में लेकर मार्क करने लगते हैं। कुछ क्षण इसी अवस्था में रहते हुए] चिट्ठी से मैंने यही समझा कि कोई प्रोफ़ेसर भगवान बाबू हैं और उन्होंने मुझे बुला भेजा है, इसलिए कि उनकी बीबी की हालत ख़राब है। [यकायक सिर ऊपर उठाकर] अगर उनकी बीबी को कोई 'विल' या दानपत्र वग़ैरह बनवाना हो तो वैसा

कहिए, मैं चलने को तैयार हूँ। नहीं तो मैं आपको किसी डाक्टर के यहाँ जाने की सलाह दूँगा।

दुबेजी—[जिनकी मुद्रा क्रमशः कठोर होती जाती है और चेहरे पर आश्चर्यमिश्रित घृणा के भाव स्पष्ट से स्पष्टतर होते जाते हैं] माफ़ कीजिएगा। यह मैंने आज समझा कि 'वकील' और 'मनुष्य' दोनों भिन्न-भिन्न प्राणी हैं। पर इतना आपसे भी कहूँगा कि बहूजी कल रात से ही प्रलाप में आपका नाम बारबार ले रही हैं और सबसे कह रही हैं, रमेश बाबू वकील को एक बार बुला दो। उनसे एक बार माफ़ी माँगना है...वग़ैरह-वग़ैरह। पूछने पर आपका पूरा नाम और यही पता बताया; क्योंकि उनके सिवा और कोई वहाँ आपको जानता भी नहीं। आज चार-पाँच दिन से प्रलाप में बराबर आप ही का नाम उनकी ज़बान पर है। पहले तो बाबू ने इस पर कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया, पर कल रात को उन्होंने आपके लिए बहुत ज़िद की [रमेशचन्द्र धीरे-धीरे हाथ की पेंसिल एक ओर रख वृद्ध की बातों में कुछ वास्तविक दिलचस्पी-सी लेने लगते हैं]। बाबू ने इस पर ज़रा ज़ोर देकर पूछा कि "अच्छा तुम्हारे रमेश बाबू हैं कौन, क्यों उन्हें इस वक्त़ इतना याद कर रही हो,

वह तुम्हारे कोई रिश्तेदार ..या क्या हैं, आदि-आदि।' इन प्रश्नों पर यकायक बहूजी को मानों होश आ गया। वह यह कहती हुई उठ बैठीं कि 'वही तो हमारे सब कुछ हैं। जानना चाहते हो वह हमारे कौन हैं? अच्छा सुनो'...इस पर बाबू ने इशारे से हम लोगों को कमरे से बाहर चले जाने को कहा और फिर भीतर से दरवाज़ा बन्द कर लिया। उनका चेहरा उस वक़्त जाने कैसा अजीब-सा हो रहा था। सुबह होते ही उन्होंने मुझे बुलाकर यह ख़त देकर भेजा और कहा कि आपको जैसे हो, फ़ौरन् साथ लेकर आना। वह उस समय कुछ अस्वाभाविक रूप से शांत और गंभीर हो रहे थे।

रमेशचन्द्र—[जिनके चेहरे पर क्रमशः उत्कंठा और दिलचस्पी के भाव बढ़ते ही जा रहे थे] ठीक है। अच्छा, एक बात और. आप अपने इन बाबू साहब की बीबी का नाम बता सकते हैं?

दुबेजी—[उसी झोंक में] क्यों नहीं, उनका नाम है उर्मिलादेवी और वह बी० ए० तक पढ़ी भी हैं। और—

रमेशचन्द्र—[हाथ के इशारे से मनाकर, चेहरे पर मानों विजयलाभ का एक गम्भीर संतोष का-सा भाव

लाते हुए, धीरे से दराज़ में से 'फ़यावन ए' सिगरेट का एक लाल रंग के टीन का चौड़ा डिब्बा निकालकर इतमीनान से एक सिगरेट जलाते हैं। दियासलाई का 'स्टैंड' उनके चाँदी के क़लमदान में ही एक ओर स्थायी रूप से जड़ा हुआ है। दो-एक कश पीने के बाद छल्लेनुमा धुआँ कमरे की छत की ओर उड़ाते हुए और ग़ौर से उसी की ओर देखते हुए। दुबेजी आश्चर्यचकित से उनकी ओर एकटक देखते रह जाते हैं] अच्छा तो यह बात है [मुसकुराकर एकाएक भाव बदलते हुए]! पर जनाब, मैं कोई पेशेवर मातमपुर्सी करनेवाला तो हूँ नहीं, जो चलके रोने-धोने में शरीक हो सकूँ। फिर लोगों को तसल्ली वग़ैरह देना या ज्ञान का उपदेश, ओ--फ़! यह मेरे सात पुश्त से भी न हो सकेगा। फिर मैं चलकर करूँगा ही क्या? हाँ, आपको भ्रम हो सकता है। बल्कि मेरी मोटर लीजिए और मेहरबानी करके एक बार देख आइए—पूछ आइए कि दर असल वकील की ज़रूरत है या डाक्टर की। तब जैसा होगा, वैसा किया जायगा।

दुबेजी--[आश्चर्य का भाव दृढ़ता से घृणा में परिवर्तित करते हुए] बस, अब हद हो गई। मुझे ज़्यादा

समय भी नहीं है [उठते हुए] कह दूँगा फ़ीस मिलने का निश्चय न होने के कारण आप आने में असमर्थ हैं।

रमेशचन्द्र—[वृद्ध की बातें अनसुनी करके फिर से अपने काग़ज़ात पर ध्यान लगाते हैं और सिगरेट खींचते हुए कुछ अमानुषिक रूप से मुसकुराते हुए कहते हैं] बड़ी कृपा। पर अपने मालिक से इतना कहने के साथ ही यह भी कह दीजिएगा कि [घृणामिश्रित गंभीरता से] "जिस व्यक्ति ने इस चरम अवस्था के आ पहुँचने पर एक बार मुझसे मिलना ज़रूरी समझा और अपने पति-द्वारा ही मुझे प्रकटरूप से बुलवाया, उसका ज़िक्र तक इस ख़त में करना आपने न-जाने क्यों मुनासिब नहीं समझा।" आपके मालिक ने अपनी व्यक्तिगत हैसियत से ही मुझे बुलवाया है। उर्मिलादेवी ने मुझसे मिलना चाहा है, यह लिखना उन्होंने मुनासिब नहीं समझा। उर्मिलादेवी उनकी स्त्री हैं। इसके माने यह नहीं हैं कि हमेशा के लिए उसने अपना अस्तित्व ही भगवान् बाबू में मिला दिया है। पर आपके बाबू साहब शायद ऐसा ही समझते हैं। यह उनकी भयानक भूल है। [वृद्ध विस्फारित नेत्रों से यह सब

सुन लेता है और फिर आश्चर्य में डूबा हुआ-सा बाहर निकल जाता है; वकील साहब एकाएक बहुत व्यस्तरूप से मिसलें देखने में लग जाते हैं, पर तुरन्त ही मुसकुराता हुआ उनका दीर्घकाय मित्र रामेश्वरसिंह कमरे में प्रवेश करता है और यह कहता हुआ कुर्सी पर बैठ जाता है]

रामेश्वरसिंह—आख़िर हमारी बात सही निकली न ?

रमेशचन्द्र—क्या तुम बाहर खड़े सब सुन रहे थे ?

रामेश्वरसिंह—उँह, इससे क्या, अब मान जाओ कि मैं ठीक कह रहा था।

रमेशचन्द्र—यह तो तुम उलटी बात मनवाना चाह रहे हो। माना कि चलते वक़्त उन्होंने एक बार मुझे याद फ़र्माया है, पर मैं गया तो नहीं। हाँ मैं जाऊँगा उसके पास, पर जब पक्की ख़बर मिल जायगी कि वह मर गई तब।

रामेश्वरसिंह—इम्पासिबुल् [ग़ैरमुमकिन]। इस हालत में बुलाये जाने पर जब हज़रत गये नहीं तो मरने पर कौन तुरत ख़बर लेकर दौड़ा आवेगा ? और फिर जाकर करोगे ही क्या ?

रमेशचन्द्र—तुम इन बातों को नहीं समझ सकते। उसे यह तो अब मालूम ही हो जायगा कि इस अवस्था

में बुलाये जाने पर भी मैं नहीं आया। और यदि इसी भावना को लिये हुए ही वह मर गई तो मेरी विजय पूरी होगी। अपनी अंतिम साँस तोड़ते समय उसे मालूम होगा कि एक पुरुष के सच्चे प्रेम के निरादर की प्रतिक्रिया कितनी निदारुण हो सकती है। पर फ़र्ज़ करो कि मैं गया और दैवयोग से वह आगे चलकर अच्छी हो गई तो वह अपनी शक्ति के घमंड से फूली नहीं समायगी। [कुछ देर सोचकर] अच्छा, मैं एक काम करता हूँ, अभी मोटर लेकर उसके घर की ओर चलता हूँ। गली के मोड़ पर ही मोटर रुकवाकर ड्राइवर को भेजकर खबर मँगवाऊँगा कि वह जीती है या मर गई। फिर अगर मरने की खबर पाऊँगा तो एक बार जाऊँगा; और नहीं तो वापस आऊँगा। तुम भी साथ चलो।

रामेश्वरसिंह—[अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ] चलो, हमारी मोटर बाहर तैयार खड़ी है। [दोनों बाहर निकलते हैं]

तीसरा दृश्य

[सड़क। एक पतली गली, दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे मकान हैं, कुछ लोग काम से आ-जा रहे हैं, एक मोड़

के पास रमेशचन्द्र और रामेश्वरसिंह, खड़े बातें कर रहे हैं]

रमेशचन्द्र—[अत्यंत उत्तेजित और उद्विग्नता के भाव से] ड्राइवर अभी तक ख़बर लेकर लौटा नहीं, शायद जीती है, चलो लौट चलें, ड्राइव ख़ुद करेंगे, वह आता रहेगा।

रामेश्वरसिंह—[मानों स्वप्न देख रहा है, उसकी बातों से चौंककर, पर दार्शनिकों की भाँति मुसकुराता हुआ] क्यों, अब हिम्मत जवाब दे रही है क्या? अच्छा, उसे आ तो जाने दो, मरने के बाद तुम्हें वहाँ जाना है न?

रमेशचन्द्र—[अत्यन्त उत्तेजित हो] मगर जब वह इतनी मरणासन्न है तो यों भी जाने पर क्या वह पहचानेगी? [उसको घसीटता हुआ] अच्छा चलो, ज़रा मकान के क़रीब तक तो पहुँचे रहें।

रामेश्वरसिंह—अच्छा, चलता हूँ; मगर अब तुम्हें ले ही चलूँगा। अगर ईश्वर की कृपा से वह जीती निकली तो जन्म भर अपना भाग्य सराहना और मुझे दुआ करना।

रमेशचन्द्र—[रुँधे गले और छलछलाई आँखों से] क्या कहते हो रामेश्वर? मुझे कमज़ोर समझते हो?

[इधर हाँफता हुआ और बहुत घबराया हुआ ड्राइ-वर पहुँचता है। रामेश्वर गूढ़ दृष्टि से उसके भीतर का भाव जानने की चेष्टा करता है, पर रमेशचन्द्र एकबारगी उस पर टूट-सा पड़ता है और दोनों हाथों से भरजोर उसके दोनों कंधों को झकझोरता हुआ अस्फुट स्वर से काँपते हुए और अत्यंत उद्विग्न स्वर से जल्दी-जल्दी कहने लगता है]

रमेशचन्द्र—जीती है न? [ड्राइवर स्तंभित और चुप है]

रमेशचन्द्र—[और भी घबराकर और ज़रा क्रोध से] जल्दी बताता क्यों नहीं, क्या देखकर—

ड्राइवर—[डरते-डरते] साहब वहाँ तो रोना-पीटना हो रहा है। एक डाक्टर साहब अभी सार्टिफ़िकेट लिखकर गये हैं।

[रमेशचन्द्र वज्राहत-सा स्तब्ध होकर रह जाता है। इधर रामेश्वर की आँखें धीरे-धीरे शरदकालीन सरोवर की भाँति भर आती हैं और वह लड़खड़ाते हुए रमेशचन्द्र को एकाएक पकड़कर अपने विशाल वक्षःस्थल से चिपका लेता है। दोनों अस्फुट स्वर से रो पड़ते हैं]

रामेश्वर—[ईषद् जुगुप्सामिश्रित सहानुभूति के साथ] अब जाओ न—मरने के बाद—जैसी हाँक रहे थे।

रमेशचन्द्र—[कुछ भी बोलने में असमर्थ, पर मानो बड़ी चेष्टा से] बस, चुप रहो। ड्राइवर, मोटर लाओ।

[रामेश्वर रमेश को मानों गोद में लिये हुए-सा अश्रुपूर्ण आँखों से आगे बढ़ता है और ड्राइवर पहले ही खिसक जाता है; धीरे-धीरे परदा गिरता है।]

शर्माजी

नाटक के पात्र

श्रीराम शर्म्मा—एक साहित्य-सेवी डिप्टी कलेक्टर।

उमा—उनकी स्त्री।

डाक्टर अस्थाना—एक नये डाक्टर, शर्मा जी के बाल्यबन्धु और सहपाठी।

तारा—इनकी स्त्री।

मनोहर—शर्मा जी का चपरासी।

प्रथम दृश्य

[रात के क़रीब नौ बजे होंगे। डिप्टी साहब दौरे से लौटे हैं। कपड़े बदल कर अपनी स्टडी में बैठे हैं। कमरा अँगरेज़ी ढङ्ग पर सजा हुआ है। शर्माजी अभी अभी कमरे में आये हैं। देखने से उम्र कोई ३० साल की मालूम होती है। रंग गेहूँआ, शरीर दोहरा और गठन से ख़ूब कसरती और खिलाड़ी मालूम होते हैं। तो भी उनके मुर्दनी छाये हुए चेहरे और 'मंथरगति से यह स्पष्ट है कि या तो ये बहुत थके हुए हैं या कोई मानसिक वेदना से इनका यही हाल रहता है।]

[कमरे में बाईं ओर से २०-२२ वर्ष की एक स्त्री आती है। ये डिप्टी साहब की पत्नी उमा हैं। इनका रंग

हलका साँवला और क़द ठिंगना है। आँखें छोटी और मुँह ज़रा ज़्यादा चौड़ा है। एक सफ़ेद धुली हुई साड़ी पहने हैं और देखने से कुछ बेवक़ूफ़-सी पर साथ ही क्रोधी मिजाज़ की मालूम होती हैं। इनको सुन्दरी या कुरूपा दोनों ही कहना कठिन है। चाल में घमंड और बनावट काफ़ी है। शर्माजी ने इन्हें देखकर एक अर्थ-शून्य मुस्कुराहट के साथ बराबरवाली आराम-कुर्सी पर बैठने का इशारा किया। ठीक इसी समय टेलीफोन की घंटी बज उठती है।]

शर्माजी—मनोहर—

[मनोहर कचहरिये चपरासियों की वर्दी में है]

मनोहर [निःशब्द रूप से नंगे पाँव कमरे में घुसते हुए]—
हुज़ूर।

शर्माजी—देखो, कौन है।

उमा—[जल्दी से] बाप रे बाप! कमरा में आते देरी नहीं हुआ कि लोग दउड़ने लगे।

[डिप्टी साहब के नथने और नेत्र कुछ कुछ विस्फारित हो उठते हैं, जिससे मालूम होता है कि ऐसे अवसरों पर वे इससे अधिक कुछ करना व्यर्थ समझते हैं और साथ ही क्षण भर के लिए देवी जी के सर्वाङ्ग पर विद्युत्-

वेग से दृष्टिपात कर फिर प्रश्नसूचक दृष्टि से मनोहर की ओर देखने लगते हैं]

मनोहर -[बोलनेवाले से दो-एक प्रश्नोत्तर करने के बाद] बोलनेवाला आपको ही बुला रहा है।

शर्मांजी—कह दो, अभी नहीं आ सकते।

मनोहर—कहा तो था, पर कहता है कि बड़ा ज़रूरी काम है।

शर्मांजी—अजीब आफ़त है। अरे बाबा कह दो तबीअत ख़राब है।

[मनोहर यंत्र उठाकर फिर कुछ बोलता है, इधर उमाजी विस्फारित नेत्रों से टेलीफोन और चपरासी की ओर इस प्रकार देख रही थीं, मानों पृथ्वी-तल पर कोई अष्टम आश्चर्य देख रही हों। साथ ही चित्रपट के दृश्य की भाँति उनका यह भाव झुँझलाहट में बदल जाता है और वे एकाएक बोल उठती हैं]

उमा—ए राम ए राम ! थोड़ा आराम में भी आफ़त है। चलिए खाना खा लीजिए। फिर देखिएगा। पूड़ी और आलू का तरकारी बना है।

[शर्मांजी अनसुनी करके, मानो श्रीमतीजी की पूर्वी बोली पर और साथ ही अपने भाग्य पर कुछ क्षणों के

लिए किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न हो जाते हैं और फिर मनोहर से धीरे-धीरे पूछते हैं]

शर्माजी—कहो भई क्या हुआ ?

मनोहर—हुजूर, अपना नाम नहीं बतलाता, लखनऊ स्टेशन से बोलता है। कहता है, गाड़ी छूटने में सिर्फ १५ मिनट की देर है, और इसी बीच आपसे कुछ बातें कर लेना जरूरी है। आवाज किसी औरत की मालूम होती है।

उमा—बाप रे बाप ! इतने रात को औरत बोलता है, टेसन पर से। कैसी औरत है !

[शर्माजी कुछ क्रोध-सूचक दृष्टि से श्रीमती जी की ओर देखते हुए धीरे-धीरे टेलीफोन की ओर बढ़ते हैं और उनकी ओर देखकर कहते हैं।]

शर्माजी—अब आप जाकर खाने-पीने का इन्तज़ाम करिए। मैं अभी दो मिनट में आता हूँ।

[श्रीमती जी उसी मुद्रा से और ज़रा हँसती हुई-सी उठ खड़ी होती हैं और दूसरे ही क्षण खिलखिला कर हँसती हुई क्षिप्रगति से कमरे के बाहर भाग जाती हैं। डिप्टी साहब मानों फ़ुर्सत की एक लम्बी साँस लेकर रिसीवर कान से लगाते हैं और कौतूहल पूर्ण स्वर से बोलते हैं]

शर्माजी—हलो।

आवाज़—मुझे पहचान रहे हो ?

शर्माजी—[कुछ सोचकर] नहीं तो।

आवाज़—पर मुझे ख़ूब याद है, तुम्हीं ने अपनी एक शुरू की कविता में लिखा था—मनुष्य का सब कुछ परिवर्तनशील है, पर कण्ठस्वर नहीं।

शर्माजी—[चुप, मानो कोई बीती बात याद करने की चेष्टा में हैं]

आवाज़—अब भी नहीं पहचाना ?

शर्माजी—कुछ ठीक याद नहीं पड़ता। आप ही ज़रा मदद कीजिए।

आवाज़—हाँ, अब क्यों पहचानोगे ? अब तुम आई० सी० एस० हो गये हो। विलायत भी हो आये हो। गोरखपुर के एक नामी वकील की लड़की से शादी भी की है और......

[धीरे-धीरे मानो शर्मा जी की आकृति स्मृतिक्षेत्र के प्रकाशयुक्त होने से आवेगपूर्ण और आतुर होने लगती है। हाथों में ईषत् कंप होने से रिसीवर मानो सिहर सा उठता है। वे अस्फुट स्वर से कहने लगते हैं।]

शर्माजी—ओ...हो...मिस ता...रा...एम० ए० फ़ाइनल के वे दिन—तुम्हारे साथ वे सीनियर क्लास के

लेक्चर—सब याद आ रहा है—भई माफ़ करना। मैं इस समय शरीर से बहुत थका और मन से तो अब सदा के लिए ही अकर्मण्य-सा हो रहा हूँ। कहो आज-कल कहाँ हो, कैसी हो और......एम० ए० के बाद अब तुम क्या कर रही हो ?

तारा—जिंदा तो देख ही रहे हो और क्या करोगे पूछ कर। क्या तुम अब भी कविता लिखते हो ? तुम्हारा कोई संग्रह छपा ? [डिप्टी साहब धीरे धीरे मानो बहुत थक कर रिसीवर लिये हुए ही एक कुर्सी खींच कर बैठ जाते हैं। दूसरे हाथ से माथा थाम लेते हैं।]

शर्माजी—एक संग्रह अभी ही छपा है। क्या तुमने देखा नहीं ?

तारा—वक्त ही नहीं मिलता।

शर्माजी—करती क्या हो ? समय कैसे कटता है ?

तारा—ये बातें रहने दो। बताओ, अब भी कविता लिखते हो या नहीं।

शर्माजी—[थोड़ा रुककर] अब सिर्फ़ कहानी लिखता हूँ।

तारा—कविता अब बिलकुल ही नहीं लिखते ?

शर्माजी—उन्हीं दिनों कुछ लिखी थीं। फिर तब से—

तारा—बंद क्यों कर दी, बताओ।

शर्माजी—तुम अपना हाल तो कहो।

तारा—अपना हाल, अपना हाल [कुछ रुककर] इसी बीच दो हो चुके।

[शर्मा जी को मानो काठ मार गया]

तारा—तुम हँसे नहीं?

शर्माजी—अच्छा फिर? कुछ ख़बर तुमने क्यों नहीं दी?

तारा—तुम्हारे साथ फिर बातचीत हो सकेगी, इसकी कोई उम्मीद नहीं थी। इस विवाहित जीवन के दो वर्षों में सिर्फ़ तीन बार घर से बाहर निकल सकी हूँ, सो भी ख़ास ख़ास मौक़ों पर। अबकी पहली बार पन्द्रह दिन के लिए मायके आ सकी हूँ। आज पतिदेव का तार आया—'फ़ौरन भेज दो'। दाई के साथ वहीं जा रही हूँ। स्टेशन पर फोन देखकर एकाएक सूझा, तुमसे दो-दो बातें कर लूँ।

शर्माजी—[कुछ उत्तेजित से होकर] तुम्हारे पतिदेव कौन हैं?

तारा—उन्हें तुम खूब जानते हो। वही तुम्हारे लड़कपन के क्लासफ़ेलो—एच० डी० अस्थाना...

शर्माजी—[बीच में ही बात काट कर कुर्सी से यकायक उठकर] अरे-रे वह तो इंटर तक मेरे साथ था।

शर्माजी

फिर वह मेडिकल कालेज, लखनऊ, चला गया और मैंने एम० ए० ज्वायन किया। बदमाश ने शादी की ख़बर तक नहीं दी। कानपुर के एक देहाती रईस का लड़का है।

तारा—ख़बर कहाँ देता, विलायत? ख़ैर, जो हो, अभी तो थोड़े ही दिन तुम्हें लौटे हुए। वे तुम से मिलने को बहुत दिन से तरस रहे हैं। पर तुम यह सब सुनकर क्या करोगे?

शर्माजी—[चुप]

तारा—अच्छा एक बात बताओ। तुम क्या उस वक़्त हिम्मत हार गये थे?

शर्माजी—[गम्भीर मानसिक वेदना के साथ] कब?

तारा—कब? अच्छा जाने दो। जानते हो, मैंने तुम्हें क्यों यकायक रिंग अप किया? तुम्हारी पोस्टिंग पर तुम्हें बधा—...तुम्हें—...

शर्माजी— हाँ हाँ, बताओ, बताओ।

तारा—तुम विलायत से आई० सी० एस० होकर लौटे हो, बढ़िया नौकरी मिली और बीबी भी और...।

शर्माजी—[मानों कहीं दूर से बोल रहे हों] तारा! बस...।

तारा—और एक बात।

है और वह मानो अर्द्धचेतनावस्था में किसी अन्य संसार में विचरण कर रहे हैं।]

उमा—[ज़रा उच्च स्वर से] पूड़ी ठंडा हो रहा है !

शर्माजी—[मानो नींद से चौंक कर] चलिए आते हैं।

[मनोहर चुपचाप आकर टेलीफोन यथास्थान रख देता है]

उमा—चलिए खाना खाकर सो रहिए। आँख बिलकुल लाल हो रहा है। देखें बुखार तो नहीं है।

[उमाजी उनकी देह का ताप देखने को अग्रसर होती हैं। वे अर्द्धनिमीलित नेत्र से अत्यंत हताशभाव से उनकी ओर देखने लगते हैं, परदा गिरता है।]

द्वितीय दृश्य

[स्थान—डाक्टर अस्थाना के मकान की बैठक जो हिन्दुस्तानी ढंग से सजी हुई है। कमरे के पीछे की ओर की दीवार से सटे हुए क़रीब १½ .फुट ऊँचे दो बड़े बड़े तख़्त बिछे हुए हैं। तख़्त पर दो सज्जन बैठे हैं। इनमें एक पंडित श्रीराम शर्मा हैं और दूसरे डाक्टर अस्थाना हैं। अस्थाना एक कृशकाय गौरवर्ण के प्रायः २८ साल के युवक हैं। शरीर की दुर्बलता और चेहरे का पीलापन, धँसी हुई आँखें और चिपके हुए

गाल तथा उभरा हुआ गंडस्थल और कपोल की हड्डियाँ आपके स्वास्थ्य का मानो विज्ञापन दे रही हैं। इस समय कमरे में और कोई नहीं है। डिप्टी साहब उस दिन से आज ज़रा ख़ुश मालूम होते हैं। पर चतुर निरीक्षक तुरन्त कह देगा कि उनका यह भाव क्षणिक या बनावटी है। उनका स्थायी भाव नैराश्यपूर्ण यहाँ भी ध्यान से देखने पर मालूम हो जाता है।]

[शाम हो चुकी है और नौकर अभी अभी हुक्के पर ताज़ा चिलम चढ़ा कर गया है। घर में दावत की-सी चहल-पहल की आहट आती है। डाक्टर साहब के लड़के का अन्नप्राशन-संस्कार हुआ है।]

डा० अस्थाना—हमने सुना है कि जब से तुम विलायत से लौटे हो तब से तुम पर टिकट लग गया है। हमारे जैसे मामूली आदमियों से तो हुज़ूर अब मिलते भी नहीं।

शर्माजी—[ईषत् हास्य कर चुप रह जाते हैं]

डा० अस्थाना—आख़िर मामला क्या है ? विलायत गये, सिविल सर्विस की नौकरी भी मिली, गोरख-पुरवाले वकील साहब की लड़की से शादी की, फिर भी दावत का कहीं नाम-निशान तक नहीं !

शर्माजी—[शादी का हवाला सुनते ही ज़रा तावपेंच

खाकर और गंभीर होकर] शादी की दावत असल में तुम्हें देनी चाहिए। तुम्हें एम० ए० तक पढ़ी हुई एक 'एडवांस्ड' लेडी बीबी के रूप में मिली है और मेरा क्या। नामी वकील की लड़की होने से क्या होता है ? ख़ुदा ही ख़ैर करे !

डा० अस्थाना—हाँ भई, हमने भी कुछ उड़ती ख़बर सुनी है कि तुम्हारा विवाहित जीवन सुखी नहीं है।

शर्माजी—सुखी ! हुँः [मार्मिक यंत्रणा-सूचक व्यंग्यात्मक हँसी]

डा० अस्थाना—[शर्माजी की पीठ पर प्रेम से हाथ रखते हुए कुछ मुसकुराते और रोज़मर्रा के सहानुभूतिसूचक स्वर में] तो तुम भाभी को पढ़ाते क्यों नहीं ? सुना है, उनकी भोजपुरी मिश्रित खड़ी बोली से तुम्हारा नाकों दम है। पर यह सब तो तुम ठीक कर ले सकते हो। ज़रा उर्दू पढ़ाकर उनकी ज़बान सुधारो। सोसाइटी में निकालो। थियेटर, बायस्कोप ले जाओ। ख़ुद रोज़ जिमखाना टेनिस खेलने जाते हो। 'एँग्लो इंडियन गर्ल्स' के साथ 'मिक्स' करते हो। उन्हें क्यों नहीं ले जाते।

शर्माजी—[मानो डाक्टर का एक एक शब्द उनके कलेजे में तीर की तरह घाव करता चला गया हो। एक

मार्मिक और सूखी हँसी हँसते हुए]—हाँ हाँ, ज़रूर ले जायँगे।

डा० अस्थाना—[ज़रा गंभीर होकर मानो शर्माजी की अनुभूति की गहराई की कुछ थाह पाकर] ऐसा ही था तब ऐसी शादी ही क्यों की ? इतनी उच्च शिक्षा पाकर तुमने क्या सीखा ?

शर्माजी—[एकाएक उत्तेजित हो आँखों में बिजली की चमक लाकर एक क्षण डाक्टर की दृष्टि में अपनी दृष्टि गड़ा देते हैं] हूँ।

डा० अस्थाना—थैंक यू, मगर यार अभी तक इस लड़की को मैं पहचान न पाया। आज तीन बरस होने को आये, दो लड़के भी हो चुके, मगर मैं जितना ही उसके अंतस्तल के पास जाने की कोशिश करता हूँ, उतना ही उसे जटिल और दुरूह पाता हूँ।

शर्माजी—[एक रहस्यपूर्ण विजय-गर्व-मिश्रित मुसकान और कुछ तिरछी चितवन के साथ] इतना समझ गये आप ? मगर अभी क्या ?

डा० अस्थाना—हाँ यार हमें अभी हाल में ही पता चला है कि तुम सालों तक उसके क्लासफ़ेलो रहे हो।

शर्माजी—[गम्भीरता से] हाँ, रहा तो हूँ। इंटर के बाद

जब तुम डाक्टरी पढ़ने चले गये और मैंने डिग्री कोर्स ज्वायन किया तभी वे भी कालेज में आईं और संयोग से मेरे ही सेक्शन में पढ़ीं। तब से एम० ए० तक बराबर साथ रहा।

डा० अस्थाना—[कुछ अप्रतिभ और चिन्ताकुल-सा होकर] तब तो यार तुम्हें उसे 'स्टडी' करने का अच्छा मौक़ा मिला होगा। कुछ बताओ तो सही वह है कैसी।

शर्माजी—[मतलब भरी मुस्कुराहट के साथ] आख़िर क्या बतावें ? कोई ख़ास बात पूछो तो बतावें भी।

डा० अस्थाना—[बालोचित चंचलता के साथ] ख़ास बात क्या—अच्छा पहले यही बताओ, क्या तुम उसे ख़ूबसूरत कह सकते हो।

शर्माजी—[गंभीर होकर सिगरट जलाते हुए ईषत् हास्य के साथ] हाँ, बहुत ख़ूबसूरत।

डा० अस्थाना—बहुत नहीं, सिर्फ़ ख़ूबसूरत ही कहो।

शर्माजी– हाँ, सिर्फ़ ख़ूबसूरत।

डा० अस्थाना—ऐसे नहीं—कुछ विशेष बताओ। किसकी तरह है ?

शर्माजी—वह सिर्फ़ सुन्दरी है, किसी से उसकी तुलना असंभव है।

डा० अस्थाना—इतना रूप है उसमें ?

शर्माजी—रूप नहीं, सौंदर्य। जो केवल सुन्दरी है उसके साथ किसी की तुलना नहीं और वास्तविक सौंदर्य का वास्तविक वर्णन असंभव है।

डा० अस्थाना—[कौतूहल से] तुम तो और उलझन में डाले दे रहे हो। अच्छा उसके बालों के बारे में क्या कहते हो ?

शर्माजी—[तश्तरी से दो-चार पान उठाकर मुँह में रखते हुए] सिर में बाल उसके असंख्य हैं। [कुछ रुककर फिर मानो आप ही आप] सामने के बाल ज़रा छल्लेदार और पीछे के बेशुमार नागिनियों की तरह टेढ़े-मेढ़े और लपलपाते हुए हैं। घने जंगल की तरह गहरे। कमरे में आकर खड़ी हो जाय तो तुम अगर सोते हो तो नींद खुल जाय [कुछ रुक कर तख़्त पर की चादर को ग़ौर से देखते हुए] या अगर जागते हो तो सो रहने की प्रबल इच्छा हो जाय। वह अगर कहीं खो जाय तो उन बालों की ख़ुशबू का पीछा करते हुए तुम उसका पता लगा सकते हो। वह यदि बैठ कर केश-पाश खोल कर अपना सर्वांग ढँक ले तो अगर कपड़े न भी पहने हो तो कोई हानि नहीं।

डा० अस्थाना—[उत्तरोत्तर कौतूहल बढ़ाते हुए कुछ अवाक् से] अच्छा मुख के बारे में कुछ कहो ।

शर्मा जी—[नतमस्तक और विचार में डूबे हुए-से] सेवार से भरी हुई एक बावली में बहुत-से कमल खिले हुए थे । एक आदमी कमल तोड़ रहा था । तोड़ते तोड़ते उसने देखा कि उनमें से एक कमल नहीं है । वह एक नवयुवती का मुख है । वह मुख उसी का है जिसे तुम ब्याह लाये हो ।

डा० अस्थाना—[संतोष से] अच्छा, अच्छा यह सब तो हुआ । उसकी उच्च शिक्षा और संस्कृति के बारे में क्या कहते हो ?

शर्मा जी—उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कियाँ प्यार नहीं कर सकतीं [कुछ रुककर वही सूखी हँसी हँसते हुए] और अपढ़ लड़कियाँ प्यार करना जानती नहीं । यही हमारी और तुम्हारी स्त्री में फ़र्क़ है ।

डा० अस्थाना—[कुछ हैरान होकर] तब तो बड़ी मुश्किल है ।

शर्मा जी—[एकाएक सिर उठा कर] नहीं, नहीं, कहीं और कुछ न समझ लेना । तारादेवी में एक बात और है । इनमें अपढ़ लड़की की-सी सरलता और

सुसंस्कृत स्त्री का-सा सौहार्द दोनों हैं। प्यार के अलावा उनमें प्रेम भी है।

डा० अस्थाना—[और हैरान होकर कौतुकपूर्ण दृष्टि से शर्मा की ओर देखकर जो फिर ध्यानमग्न-से होकर स्थिर दृष्टि से तश्तरी में रक्खे हुए पानों को देख रहे थे] अच्छा भई, 'प्यार' और 'प्रेम' में क्या फ़र्क़ निकालते हो ?

शर्माजी—प्यार पौधा है, प्रेम है उसमें खिलनेवाला सुन्दर फूल। सब पौधों में फूल नहीं खिलता। जो चतुर माली-द्वारा यथाविधि सींचे जाते हैं उन्हीं में वह फूल खिलता है और फिर अनाड़ी माली के हाथ में पड़ने पर चुपचाप नष्ट भी हो जाता है, और...

डा० अस्थाना—[कुछ चिंतायुक्त और सशंक होकर] अच्छा, बस बस;—अच्छा उसकी आँखों के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

शर्माजी—[कुछ ज़ोर से हँस कर डाक्टर से निगाह मिलाते हुए] बिना देखे शादी करके घर में जोड़ू बैठानेवालों की यही दशा होती है। उनकी आँखों में कोई ख़ास बात तो नहीं है, सिर्फ़ यही है कि अगर तुम उनके सामने खड़े होओ तो अपनी

तसवीर उनमें देखोगे। वे शून्य की दो बूँदें हैं! फिर भी वे वैसी हैं मानो उन्हें अनेक बार देखा है, पर कहाँ, यह याद नहीं। फिर [मानो अर्ध-चेतन-से होकर आप-ही-आप] देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो जन्मजन्मान्तर से तुम उन्हीं आँखों की तलाश में थे। उन आँखों में सुन्दरी-सुलभ चपलता या भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि की हरकत नहीं देखोगे। उनमें जीवन की गम्भीरता है। उनमें लालसा नहीं, साधना है।

डा० अस्थाना—[मानो वेदवाक्य सुन रहे हों]—भाई वाह; ख़ूब; कहते चलो।

शर्माजी—[मानो सुना ही नहीं] तुम जब उनके पास बैठोगे तब ऐसा मालूम होगा मानो सजीव प्रकृति की गोद में बैठे हो। तुम्हें उनकी समष्टिरूप से आराधना करने की इच्छा होगी।

डा० अस्थाना—सिर्फ़ आराधना, प्यार करने की नहीं?

शर्माजी—[अत्यन्त गम्भीरता से] प्यार करना ही भर तुम्हारा भाग्य होगा और कर्त्तव्य भी होगा, प्यार पाना नहीं।

डा० अस्थाना—[कुछ विचलित और सभय-से होकर] तो फिर यह सब किसलिए?

शर्माजी—[कुछ सँभल कर] कुछ लड़कियाँ प्यार पाना ही भर अपना हक समझती हैं, प्यार करना नहीं। पुरुष के प्रेम से वे मुग्ध हो सकती हैं, पर उस मुग्धता को उनका प्यार समझना महाभ्रम है। वे अर्घ्य चाहती हैं, इसी से उन्हें हम लोग 'देवी' कहते हैं। अर्घ्य और पूजा के प्रतिफल में हम अधिक से अधिक 'प्रसाद' पा सकते हैं। मगर प्यार—

डा० अस्थाना—क्या 'वे' भी ऐसी ही स्त्रियों में से एक हैं?

शर्माजी—[रहस्यपूर्ण दृष्टि से] यह तुम ख़ुद खोज निकालो। [फिर मानो किसी दूसरी दुनिया में जाकर] उनके सामने खड़े होते ही तुम्हें ऐसा ज्ञान होने लगेगा, मानो तुमने उनके प्रति बड़ा अनुचित आचरण किया है। ज्यों ज्यों तुम उनके समीप जाओगे, तुम्हें अपनी असमर्थता, अयोग्यता तथा क्रूरता का परिचय मिलता जायगा।

डा० अस्थाना—[गम्भीरता से] तुम्हारी ये बातें ज़रा समझ में नहीं आईं शर्मा।

शर्माजी—अभी नहीं कुछ दिन में समझ सकोगे।

डा० अस्थाना—अच्छा जाने दो, तुम हमको भी तो खूब जानते हो। ठीक बताओ, क्या तुम्हारी राय में हमारी इसकी निभेगी नहीं।

शर्माजी—[बाहर दालान की ओर शून्य दृष्टि से] तुम्हारी इनकी नहीं भी निभ सकती है।

डा० अस्थाना—[हँसकर] ऐसा न कहो खुदा के लिए। पर ऐसी बात उसमें क्या है ? मुझे तो अभी कुछ मालूम नहीं हुआ।

शर्माजी—[आलस्य से अँगड़ाई लेकर] तुम्हें कभी भी न मालूम होगा। बात सिर्फ़ यही है कि उनमें आत्मनिर्भरता की मात्रा बहुत अधिक है। उसे चाहो तो अभिमान भी कह सकते हो। अगर तुम उनके लायक़ नहीं हो सकते तो वे आसानी से तुम्हें छोड़कर चली जा सकती हैं। संसार उन्हें बाँध नहीं सकता, प्रेम भी उन्हें वशीभूत नहीं कर सकता।

डा० अस्थाना—[तमककर] ग़लत ! बिलकुल ग़लत !! तुम क्या जान सकते हो उसे—उसमें स्वतन्त्रता तो है ही नहीं।

शर्माजी—वे स्वतन्त्र नहीं, सहज हैं। तुमने अगर कुछ भी उन्हें जाना है तो तुम्हें मालूम हुआ होगा

कि जिसे स्त्री-स्वभाव कहते हैं उसका उनमें नितांत अभाव है। स्त्री की स्वार्थ-परायणता, तुच्छ लोलुपता, ईर्ष्या, अलंकार, प्रसाधन आदि का लोभ, तुच्छ छल-कपट, प्रतिहिंसा आदि उनमें नहीं देखोगे। वे पुरुष हैं। उन्हें स्त्री चाहिए और यदि तुम उनके अनुकूल स्त्री नहीं हो सकते तो...

डा० अस्थाना—शर्मा, तुम पागल तो नहीं हो गये हो। क्या अनाप शनाप बक रहे हो? अभी तो ठीक थे।

शर्माजी—[उनका चेहरा इस वक्त तक सुर्ख और आँखें मानो धीरे धीरे सुलगती जा रही थीं] पर तुम स्त्री नहीं हो सकोगे।

डा० अस्थाना—[ज़रा प्रकृतिस्थ होकर] अच्छा आख़िर उसे ख़ुश करने के लिए क्या करना चाहिए? उसकी पसन्द क्या है? उसे क्या अच्छा लगता है? तुम्हें तो उसका 'टेस्ट' हमसे कहीं ज़्यादा मालूम होगा।

शर्मा जी—[उसी भाव से] उनका टेस्ट? उनकी पसन्द? [क्षण भर के लिए ज़रा हलके होकर मुसकुराते हुए] उन्हें सब अच्छा लगता है। उन्हें कोई चीज़ नापसन्द नहीं है। पर वे ख़ास तौर से ख़ुश होती हैं तितलियों को फूलों के पौधों पर उड़ते देखकर। खिलखिला कर हँसती हुई उन्हें पकड़ने की चेष्टा करती हैं।

पकड़ने में असफल होने पर भी उसी प्रकार हँसती रहती हैं। पर कोई दूसरा अगर पकड़ कर देना चाहेगा तो नाराज़ हो जायँगी। पकड़ कर छोड़ने, फिर पकड़ने और फिर उड़ाने में उन्हें बड़ा मज़ा आता है। और फिर दूर से रेलवे इंजन के सिर पर लगी हुई सर्चलाइट की रोशनी उन्हें अच्छी लगती है। अस्तकालीन सूर्य और उसकी लालिमा से मंडित नभमंडल वे घंटों खड़ी एकटक देख सकती हैं। और सब...

डा० अस्थाना—[विरक्तिसूचक स्वर से और संदेहात्मक दृष्टि से] अच्छा, अच्छा, बस, बस। यह सभी ऐसी बातें हैं जिन पर हमारा कुछ ज़ोर नहीं और—

शर्माजी—[मानो सुना ही नहीं और मानो उन्हें इसकी परवा नहीं कि कोई उनकी बात सुन रहा है कि नहीं] और हाँ, तुम्हारे लिए यह सब कठिन है, पर तुम्हारे लिए सबसे कठिन है उन पर प्यार प्रकट करना। वे तुम्हारे लिए सबसे कठिन घड़ियाँ होंगी जब तुम उनसे प्यार की बातें करने की कोशिश करोगे। ऐसे मौक़ों पर तुम अपनी ज़बान बन्द पाओगे, उलटे अपने को-खुद-बखुद बनावटी और बेहया कहकर धिक्कारने के लिए शब्द खोजने

लगोगे। सचमुच सबसे कठिन है उसको प्यार जताना—सचमुच सबसे कठिन। [एक लम्बी साँस लेते हैं फिर कुछ रुक कर कहते जाते हैं, डाक्टर भौंचक्का-सा उनका एक एक शब्द मानो पी रहा है, उसकी दृष्टि में संदेह का भाव बढ़ता जा रहा है] और मज़ा तो यह है कि ज्यों ज्यों दिन बीतेगा त्यों त्यों तुम अपने को उसके सामने तुच्छ से तुच्छतर पाते जाओगे। [एकाएक उग्र रूप धारण कर] मालूम होगा, गला उन्होंने धर दबाया है। पर साथ ही तुम्हें यह सदा स्पष्ट रहेगा कि वे हमेशा के लिए तुम्हारी पहुँच के बाहर की चीज़ हैं। फिर भी तुमको मालूम होगा कि उनका पीछा करने से बाज़ नहीं आ सकोगे...

डा० अस्थाना—'सम् थिंग रांग विद योर ब्रेन', [घड़ी देखते हुए] चलो उठो अब लोग इकट्ठा हो रहे हैं, दावत का वक्त़ हो आया—

शर्माजी—[उसी भाव से] रोज़ तुम कोशिश करते होगे कि किसी तरह कहें—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।" पर रोज़ तुम असफल होगे। उनको प्यार की बात सुनने की परवा तो है ही नहीं और इसी से इन मौक़ों पर तुम्हारी ज़बान में मानो कोई ताला लगा देगा।

शर्माजी

[किसी आभ्यंतरिक उद्वेग से उनकी आँखें अब तक तप्तांगारवत् हो चुकी थीं] तुम इन मौक़ों पर अपने को बहुत ही थका हुआ, पस्त और मुहताज मानने को मजबूर होगे।

डा० अस्थाना—[व्यंग्य से] उसके साथ शादी करने की यह सज़ा है।

शर्माजी—[क्षण भर के लिए मानो एक उत्कट आनंद का अनुभव करके] हाँ, यही दंड तुम्हें भोगना पड़ेगा। [फिर गंभीर होकर] तुम्हारा क्या पुरुषमात्र के प्रेम का शायद यही पुरस्कार है। यदि तुम्हारे आँखें हैं तो तुम्हें मालूम हुआ होगा कि इस शादी से उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका परिवर्तन किसी को मालूम नहीं होता। हैं तो वे स्त्री, पर उनका सब कुछ मन, बुद्धि आदि पुरुष का है। उनके हृदय की किस तह में उसका स्त्री-रूप लुका-छिपा पड़ा है—यही खोज निकालना तुम्हारी साधना होगी, और यदि इसका आविष्कार किये बिना ही तुम उन्हें प्यार दिखाने की कोशिश करोगे तो वे हँस पड़ेंगी। तुम केवल यही समझोगे कि वह हृदयहीन और निर्दय हैं—तुमसे वह किसी कारण

उदासीन हैं। और सबसे कठिन समय वह आवेगा जब वे तुम्हें भूल जायँगी।

डा० अस्थाना—अच्छा ! वह भी संभव होगा ?

शर्माजी -हाँ होगा। वे तुम्हें भूल जायँगी और भूल कर भी तुम्हें याद न करेंगी। उनका रूप ही यही है।

डा० अस्थाना—पति से वह ऐसा व्यवहार करेगी ?

शर्माजी—[दयालु भाव से] पति से नहीं, तुमसे। उनका पति कोई नहीं है। रात को तुम सोते-सोते उठ खड़े होगे, तुम्हें मालूम होगा सैकड़ों बिच्छू एक साथ तुम्हें डँस रहे हैं, पर तुम चिल्ला कर किसी को सहायता के लिए नहीं बुला सकोगे। मालूम होगा तुम्हारा सर्वाङ्ग कोई आबद्ध किये हुए बैठा है।

डा० अस्थाना—[बहुत उद्विग्न होकर] अच्छा, उठो चलें, अब हम और नहीं सुनना चाहते, लोग बैठे इंतज़ार करते होंगे—

शर्माजी—[अत्यन्त उत्तेजित हो अपना जलता हुआ मुँह और फैली हुई आँखें उठाते हुए डाक्टर के मुँह से क़रीब क़रीब सटा कर और उनका हाथ पकड़ कर बैठाते हुए। डाक्टर कुछ सहम कर सुनने को बाध्य होता है] सुनो, दावत तो खायँगे ही, पर एक

बात और सुन रक्खो। तुम जितना ही प्रेम दिखाने की चेष्टा करोगे वे उतना ही आँख उठाकर भी तुम्हारी ओर न देखेंगी। तुम्हें अपना सिर पटक देने की प्रबल इच्छा होगी। एक-मात्र स्त्री के लिए तुम्हारी निगाह में सारा विश्व भयावह हो उठेगा। [इतना कह कर वे मुँह हटा लेते हैं और हाथ छोड़ कर मानो यह जानने की चेष्टा करते हैं कि डाक्टर उन्हें सन्देह की दृष्टि से देख रहा है कि नहीं। पर डाक्टर और बैठ नहीं सका। वह भयभीत-सा होकर एक विचित्र दृष्टि से देखता हुआ और यह कहता हुआ भीतर जाता है।]

डा० अस्थाना—देखें, सब लोग आ गये हों तो तुम्हें अन्दर लिवा ले चलें।

शर्मांजी—[मानो सुना ही नहीं। डाक्टर के जाने पर वे धीरे-धीरे एक सिगरेट निकाल कर तख्त से नीचे उतरते हैं और आगे दालान में आते हैं। दालान में कुछ अँधेरा है। वे ऊपर को दृष्टि उठाते हैं, थोड़ा-सा आकाश दिखाई पड़ता है। कुछ देर तक शून्य में टकटकी लगाये देखते रह जाते हैं। धीरे-धीरे सिर नीचा करके जेब-से दियासलाई निकाल कर सिगरेट जलाते हैं। उनके दोनों हाथ अभी तक

थर-थर काँप रहे हैं। वे मानो यह सोच रहे हैं कि उन्होंने कोई ऐसी बात तो नहीं कही जिससे डाक्टर को उन पर सन्देह हो गया हो। धीरे-धीरे परदा गिरता है।]

दूसरा उपाय ही क्या है ?

नाटक के पात्र

सुरेश—विश्वविद्यालय का एक छात्र ।

महेश—उसका मित्र ।

नरेन्द्र—एक युवक रईस ।

सीता—उसकी पत्नी ।

समय—सायंकाल ७ बजे ।

स्थान—सुरेश की बैठक ।

प्रथम दृश्य

[सुरेश अपनी बैठक में एक कुर्सी पर बैठा हुआ एक अख़बार पढ़ रहा है। बैठक मामूली ढँग की सजी हुई है। एक ओर एक छोटा मेज़ है और कुछ कुर्सियाँ हैं और दूसरी ओर एक तख़्त है जिस पर साफ़ दरी और चद्दर बिछी है और दो तकिया रक्खे हुए हैं। दीवार में एक ओर एक आलमारी है जिसमें पुस्तकें सजी हुई हैं और उसी के एक ख़ाने में कई 'शील्ड' और चाँदी के 'कप' भी रक्खे हुए हैं जो कि टूर्नामेंट [खेलों] में सर्वश्रेष्ठ आने पर विजय के उपहार-स्वरूप सुरेश को मिले हैं। सुरेश की अवस्था पचीस के लगभग, शरीर सुगठित और सुडौल, क़द मझोला और रङ्ग साँवला है। पहनावा

दूसरा उपाय ही क्या है ?

साधारण धोती कुरता; चेहरे पर शिशु की-सी सरलता स्पष्ट है। वह अख़बार रखकर उठना ही चाहता है कि उसका एक पुराना मित्र महेश प्रवेश करता है। यह एक लंबे क़द का गौर-वर्ण नवयुवक है और अँगरेज़ी 'ईवनिंग सूट' पहने हुए है। देखने से काफ़ी चंचल पर साथ ही तीव्र बुद्धि का मालूम होता है।]

महेश—तुम लखनऊ से कब आये ? अब की तो पूरी छुट्टी वहीं बिताई !

सुरेश—ओहो, ख़ूब आये। आज ही सुबह मैं आया हूँ, और खाना खाकर दिन भर सोता रहा हूँ। अभी-अभी उठकर तुम्हारे ही यहाँ आने की सोच रहा था कि तुम्हीं आ गये ! [सुनने से कंठस्वर स्त्रियों के स्वर से भी मीठा बल्कि एक चार वर्ष के बच्चे का-सा जान पड़ता है।]

महेश—[अर्थभरी मुस्कुराहट के साथ] हाँ, अब और कहाँ जाने की सूझेगी ? पहले तो महीनों बीत जाते थे तब कहीं...

सुरेश—[मतलब न समझ कर] क्या, क्या अब कोई नई बात हो गई, या तुम कोई दूसरे हो गये या मैं बदल गया ?

दूसरा उपाय ही क्या है ?

महेश—बदले न तुम न हम, पर एक नई बात ज़रूर हो गई है जिसका तुम्हें कदाचित् अब तक पता चल गया होगा।

सुरेश—[बच्चों की-सी उत्सुकता और कुछ आश्चर्य प्रकट करते हुए] क्यों, क्यों, क्या बात हुई है ? जल्दी बताओ। कौन-सी बात हो सकती है जिसकी वजह से मुझे तुम्हारे यहाँ जाने पर बाध्य होना पड़े !

महेश—तुम रहे बस वही। अरे भले आदमी, तुम हमारा मतलब ही नहीं समझे बिलकुल। अब सब खोलकर कहना ही पड़ेगा। बात यह है कि पहले जहाँ तुम रोज़ आते जाते थे वह रास्ता तुम्हारे और हमारे दोनों ही के सौभाग्य से बन्द हो गया। अब तुम जा ही कहाँ सकते हो सिवा मेरे…

सुरेश—[एकाएक किसी अनिष्ट की आशंका से त्रस्त होकर] क्यों, क्यों, क्या सीता… अब…

महेश—[एक नटखट हँसी के साथ] यार, तुम बिलकुल बच्चे हो। अकसर लोगों को ताज्जुब होता है कि तुम बी० ए० वग़ैरह कैसे पास कर ले गये और खेल में भी इतना नाम किया।

सुरेश—[ज़रा चिढ़कर और आवेश में खड़े होकर] तुम बताओगे कि नहीं ? क्या सीता कहीं…

दूसरा उपाय ही क्या है ?

महेश—[गंभीरता से] हाँ, सीता कहीं चली गई।

सुरेश—[कुछ स्वस्थ होकर] ख़ैर बस यही न, गई है तो दो-चार रोज़ में फिर आ जायगी। [बैठकर स्वस्ति की साँस लेता है।]

[महेश अति गंभीर भाव से कुछ देर तक सुरेश के भोले चेहरे की ओर देखता रह जाता है, धीरे-धीरे उसकी आँखें शरत्कालीन सरोवर की भाँति अश्रुपूर्ण हो जाती हैं। सुरेश का ध्यान कुछ देर बाद महेश की इस मुद्रा की ओर आकर्षित होता है और उसकी भरी आँखों पर ग़ौर करते ही वह तेज़ी से महेश के पास आकर बैठ जाता है और उसके दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर एकटक आश्चर्य से उसके मुँह की ओर देखता रह जाता है। मानो सहानुभूति से उसकी आँखें भी भर आती हैं। महेश कुछ क्षण और इसी अवस्था में रहने के बाद रुँधे गले से सिर्फ़ इतना ही कह पाता है] सुरेश !

सुरेश—[अब एक-दम रो पड़ता है, टपाटप आँसू की दो बड़ी बड़ी बूँदें उसके भरे और पुष्ट कपोलों पर आ गिरती हैं] आखिर बात क्या है महेश ? तुम पहेली पर पहेली रखते जा रहे हो ! कुछ बताओगे भी ?

महेश—अच्छा सुरेश, क्या तुम सीता को बहुत ज़्यादा प्यार करते हो ?

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सुरेश—[स्त्रीसुलभ लज्जा के साथ और बड़े ही मधुर स्वर में] क्या तुम्हें मालूम नहीं ?

महेश—हाँ, हमें खूब मालूम है, इतना मालूम है जितना कि शायद तुम खुद न जानते होगे, और इसी से मुझे इतनी चिंता हो रही है।

सुरेश—पर इसमें चिंता की बात ही क्या है ? अभी अभी तुमने कहा है कि वह सिर्फ़ कहीं चली गई है, फिर इसमें घबराने की बात ही कौन-सी है ?

महेश—पर वह अगर कम से कम तुम्हारे लिए हमेशा के लिए कहीं चली गई हो तब ?

सुरेश—[बलि होनेवाले निरीह जीव की भाँति एकाएक त्रस्त और आकुल होकर] भई, साफ़ बताते क्यों नहीं ? खैर तुम साफ़ नहीं बतलाते मैं अभी ज़रा बाहर निकल कर खुद सब मालूम कर लूँगा। इधर छुट्टियों में दो महीने बाहर रहा, इसी बीच क्या ग़ज़ब हो जायगा।

महेश—अच्छा क्या इस दर्म्यान सीता ने तुम्हें कोई चिट्ठी नहीं लिखी ?

सुरेश—शुरू में मैंने लखनऊ पहुँचते ही जो खत लिखा था उसका छोटा-सा जवाब उसने लिख भेजा था और उसमें उसने यह बात खूब स्पष्ट कर दी थी कि

दूसरा उपाय ही क्या है ?

अब हम लोगों में पत्र-व्यवहार न होना चाहिए। उसके घर के लोग बुरा मानते हैं। मैंने फिर पत्र लिखना बन्द कर दिया और फिर कभी इस विषय पर विचार भी नहीं किया।

महेश—जनाब, बात बिलकुल इतनी नहीं है। [एकाएक कुछ रुक कर ऊपर देखते हुए मानो स्वगत] हे भगवन्! स्त्रियों के लिए कितना आसान होता है भोले-भाले प्रेमनिर्भर पुरुषों को चकमा देना! भोले क्या, बड़े बड़े अनुभवी समझे जानेवाले समझदार लोग भी इन मामलों में और ऐसे मौक़ों पर मामूली स्त्री के मुक़ाबिले में भी ऐसी मुँह की खाते हैं कि......

सुरेश—[यह कटाक्ष सुनते ही उसके स्वस्थ साँवले चेहरे पर एक अपूर्व लालिमा दौड़ जाती है और वह मानों आवेश से कहता है] बस! बस! स्त्री-जाति के ऊपर यह दोषारोपण तुम्हें शोभा नहीं देता महेश! नहीं बताना चाहते तो कोई और बात छेड़ो, हम यह सब नहीं सुनना चाहते [चेहरे पर अधैर्य के भाव स्पष्ट हो जाते हैं]

महेश—[एक सूखी हँसी हँसकर] Don't be a sentimental fool [मूर्खों की-सी भावप्रबलता न दिखाओ] जो लड़की एक भोले और विश्वासी और

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सर्वथा योग्य नवयुवक से इतने दिन प्रेम का स्वाँग रच और विवाह का वचन दे सिर्फ़ ऐश्वर्य के लोभ से किसी बड़े रईस के लड़के से शादी कर ले उसको तुम क्या कहोगे ?

सुरेश—[एक-दम सन्नाटे में आकर] क्या ? सीता का विवाह हो गया ! यह असम्भव है । हम और वह तो परमात्मा की दृष्टि में विवाहित थे । [एकाएक मुस्कुराहट की क्षीण रेखा के साथ] उसी के आग्रह से हम लोगों ने एक दिन परमात्मा को साक्षी देकर परस्पर चिर साथी होने की प्रतिज्ञा की थी ।

महेश—[विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखते हुए] क्या ? यहाँ तक नौबत पहुँच चुकी थी ! .... यह नहीं मालूम था । अब जा के ज़रा आँखें खोल कर देख कर आओ— वही तुम्हारी स्वयं परिणीता सीता इस समय यहाँ के मशहूर रईसज़ादे नरेन्द्र बाबू की सहधर्मिणी-रूपेण संस्थिता हो रही है ।

सुरेश—[क्षण भर के लिए उसके चेहरे पर मानो आग का पानी पड़ जाता है और आँखों में बिजली दौड़ जाती है पर तुरन्त ही यह भाव बदल कर एक अपूर्व उदासीनता में परिणत हो जाता है और वह सिर नीचा किये हुए धीरे धीरे कहने लगता है] इस

दूसरा उपाय ही क्या है ?

विवाह के लिए वह स्वयं उत्तरदायी नहीं हो सकती। वह हिन्दू-समाज की चक्की में पड़ कर चाहे. जिसके भी साथ विवाह करने पर बाध्य क्यों न हो, पर उसका हृदय और कोई नहीं पा सकता।

महेश—[सन्न होकर आँखे फाड़ फाड़ कर उसकी ओर देखता रह जाता है] सुरेश ! तुम सचमुच इस युग के क्या किसी भी युग के मनुष्य नहीं हो। तुम बस अजीब हो। [उसके ललाट पर बहुत-सी बलें पड़ जातीं हैं और वह गम्भीर चिन्ता में निमग्न उठ खड़ा होता है।] पर मुझे जो आशंका थी वह निर्मूल मालूम होती है।

सुरेश—[साथ ही खड़े होकर एक खिन्न हँसी के साथ ग्लानिपूर्ण स्वर से] तुमने क्या सोचा था कि मैं उसका या उसके पति का खून कर दूँगा, या मैं अपनी ही हत्या कर डालूँगा ? सुनो महेश, यह सब कुछ नहीं होगा। पर एक बार— सिर्फ़ एक बार— उससे मिल कर दो बातें ज़रूर करूँगा और यह काम आज ही बल्कि अभी ही जाकर करता हूँ। अब यही एक काम मुझे करना है।

महेश—[व्यंग से] जब तुम्हारे विचार इतने उच्च हैं तो एक बार मिलने की इच्छा क्यों ? याद रक्खो कि

दूसरा उपाय ही क्या है ?

वह अब पर-स्त्री है। अब उसकी बात सोचना भी तुम्हारे लिए पाप है, मिलना तो बहुत बड़ी बात है।

सुरेश—[मर्म्माहत होकर] महेश ! शायद तुम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि मैं किस लिए उससे मिलना चाहता हूँ। मैं उससे क्षमा-याचना करूँगा।

महेश—[गम्भीरता से] सुरेश ! तुम सचमुच एक पहेली हो [चिन्तित रूप से महेश का प्रस्थान; पट परिवर्तन]।

द्वितीय दृश्य

[स्थान—सीता का पतिगृह; समय वही, क़रीब एक घंटा बाद; सड़क के किनारे एक विशाल भवन का दरवाज़ा। एक गढ़वाली सिपाही खुखड़ी और बन्दूक़ लिये फाटक पर एक तिपाई पर बैठा हुआ है। सुरेश कुछ व्यस्त रूप से वहाँ उपस्थित होता है और बेधड़क अन्दर घुसना ही चाहता है कि वह सिपाही रास्ता रोक कर खड़ा हो जाता है और पूछता है]

सिपाही—आप किससे मिलना चाहते हैं ?

सुरेश—[कुछ अप्रतिभ होकर पर दृढ़ता से] नरेन्द्र बाबू की स्त्री से।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सिपाही—[चकपका कर इस तरह सुरेश की ओर देखता है मानो सुरेश की दिमाग़ी हालत पर सन्देह है] आप .....आप......बहू जी से मिलना चाहते हैं। ......[एक जंगली हँसी हँसता है]

सुरेश—[कुछ रोष से पर अत्यन्त गम्भीरता और दृढ़ता से] तुम जाकर भीतर खबर दे सकते हो या नहीं ?

सिपाही—[सुरेश के इस दृढ़ भाव से रोब में आकर] क्या नाम बतलाऊँगा ? [ठीक इसी समय प्रायः २० वर्ष की एक युवती बग़ल के कमरे का पर्दा हटा कर सिपाही और आगन्तुक की बातचीत सुनने की इच्छा से दरवाज़े की ओर झाँकती है। उसकी दृष्टि हठात् सुरेश की दृष्टि से मिल जाती है। वह चौंक कर इस तरह आपादमस्तक सिहर उठती है जैसे एकाएक हवा का झटका खाकर बेंत की लता काँप उठती है। वह तुरन्त ही पर्दा खींच कर कमरे की ओर अन्तर्द्धान हो जाती है।

सुरेश—[मुसकुरा कर] कह दो सुरेश बाबू मिलने आये हैं, वह समझ जायगी। [सिपाही अन्दर जाता है और क्षण भर बाद ही बाहर लौट कर कहता है]

सिपाही—साहब, बहूजी कह रही हैं कि जाकर कह दो बाबू घर पर नहीं हैं।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

[सुरेश की आँखें आश्चर्य से विस्फारित हो जाती हैं और वह कुछ क्षण तक सिपाही की ओर देखता रह जाता है ।]

सिपाही—[ज़रा मुसकुराकर अपनी तिपाई पर बैठने का उपक्रम करता हुआ] जाइए साहब, देखते क्या हैं, बाबू हैं नहीं, बड़ा लोग का मामला है, फेर किसी दोसरा बखत में आइएगा ।

[घृणा की दृष्टि से सिपाही की ओर देखता हुआ सुरेश लौट पड़ता है । पर दो क़दम बढ़ते ही रईसाना ठाठ के एक नवयुवक से, जो कि उसी दरवाज़े की ओर मुड़ते हैं, उसकी मुठभेड़ होते होते बचती है । आगंतुक नवयुवक की अवस्था लगभग तीस वर्ष, शरीर सुकुमार और कुछ स्थूल, आँखों में चश्मा, शरीर पर गरम सफ़ेद फ़लालैन का एक कुर्त्ता और एक काश्मीरी सफ़ेद दुशाला तथा हाथ में एक फैंसी घड़ी है । अपनी धुन में मस्त सुरेश मानो दिशा 'ज्ञान'-शून्य होकर, तेज़ी से चल पड़ा था, और यह नवागंतुक सज्जन अगर जल्दी से एक ओर न हट जाते तो निश्चय दोनों की टक्कर हो जाती । यह नवागंतुक सीता के पति नरेन्द्र बाबू हैं]

नरेन्द्र—[कुछ हँसते हुए] हूँ, आप यों ख़ूब चलते हैं ! पबलिक रोड पर ज़रा आँख से काम लेते हुए

दूसरा उपाय ही क्या है ?

ही चलना अच्छा होता है। अभी तो हम आप लड़ चुके थे।

सुरेश—[उनकी ओर बग़ैर देखे ही जल्दी से] माफ़ कीजिएगा, मैं ज़रा जल्दी में था [कह कर फिर चल पड़ता है पर नरेन्द्र उसे रोककर पूछता है]

नरेन्द्र—ज़रा सुनिए तो, आप यहाँ किसके पास आये थे ?

सुरेश—[अब पहली बार उनकी ओर देखता है] क्या आपही इस घर के स्वामी नरेन्द्र बाबू हैं ?

नरेन्द्र—मैं कोई भी होऊँ, आप अपना मतलब तो बताइए।

सुरेश—[कुछ क्षण ग़ौर से नरेन्द्र की मुखाकृति परखने के बाद] ख़ैर, मैं जिससे मिलने आया था उन्होंने तो अच्छा ही किया कि गृहस्वामी की अनुपस्थिति में इस आदर के साथ मुझे निकलवा बाहर किया। आख़िर धृष्टता की भी कोई सीमा होनी चाहिए न ? [क्षण भर मौन; दोनों ध्यान से एक दूसरे की मुखाकृति का अध्ययन करते हैं, फिर सुरेश एकाएक कहता है] अच्छा नमस्कार, मैं चला।

[सुरेश का सवेग प्रस्थान; नरेन्द्र कुछ हक्काबक्का-सा कुछ क्षण जाते हुए सुरेश की ओर देखता रह जाता है।

फिर धीरे-धीरे दरवाज़े की ओर मुड़ता है। सामने ही अदब से खड़ा हुआ वह पहाड़ी दरबान और कमरे की चिक हटाकर बाहर बरामदे में निकली हुई वही युवती दिखलाई पड़ती है। वह सीधे युवती के पास जाता है। युवती सचमुच सुंदरी है और वेशभूषा से काफ़ी शिक्षिता और संस्कृता जान पड़ती है। उसकी प्रत्येक अदा से पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है।

नरेन्द्र—[आश्चर्य और हास्य की मुद्रा से] हुँ ! अजीब आदमी जान पड़ता है। यह यहाँ किससे मिलने आये थे ?

सीता—[अहंकार और रोब-मिश्रित गंभीरता से] हमसे।

नरेन्द्र—[आश्चर्य से] तुमसे ? और तुमने भले आदमी को इस तरह अपमानित करके बाहर निकलवा दिया ! उन्होंने हमसे साफ़ यही कहा।

सीता—मैंने सुना जो कुछ उन्होंने आपसे कहा।

नरेन्द्र—आख़िर मामला क्या है ? बिचारे बहुत ज़्यादा ज़लील-से मालूम हो रहे थे। मैं जब तक बुलाऊँ तब तक तो वह एक चलता हुआ नमस्कार उड़ा कर हवा हो गये। यह स्पष्ट था कि वह अत्यन्त मर्माहत होकर ही गये हैं।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सीता—[भ्रुकुटी चढ़ जाती है और कुछ बनावटी रोब और झुँझलाहट के साथ] बात यह है कि वह हमारे बाबूजी के पड़ोसी हैं, बहुत पुराने। लड़कपन से ही मैं उन्हें भैया कहती हूँ। अम्मा उन्हीं से मेरी शादी करने को तय कर चुकी थीं। पर इधर वह बहुत दिन से जाने कहाँ चले गये थे। इसी बीच मेरी शादी आपसे हो भी गई। आज आये थे मुझसे मिलने, पर ऐसी हालत में मुझे उनसे मिलना ज़रा ठीक नहीं जान पड़ा। मैंने दरबान से कहलवा दिया कि आप घर पर नहीं हैं। इसी से शायद अपने को अपमानित समझ कर लौट गये।

नरेन्द्र—[मतलब भरी मुस्कुराहट के साथ] पर यह सरासर तुम्हारी ज़्यादती है। आख़िर जिसके साथ इतने दिनों तक घनिष्ठता रही उसे इस रुखाई से बिदा करना अच्छा नहीं हुआ। अब मुझे ख़ुद जाकर उन्हें लिवा लाना पड़ेगा। [कुछ सोच कर] मालूम होता है जैसे उन्हें कहीं देखा है।

सीता—बहुत मुमकिन है। वह टेनिस के बड़े मशहूर खिलाड़ी हैं। और एक अच्छे [चेहरे पर गुलाबी रंगत दौड़ जाती है] कलावंत भी हैं।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

नरेन्द्र—[कुछ क्षोभ से] हाँ, हाँ, ठीक है, ज़रूर कहीं देखा होगा। पर देखो तुम बिचारे के साथ बड़ी संगदिली से पेश आईं। ज़रा दो मिनट बैठा कर पान-वान भेजवा देतीं तो कौन-सा बड़ा हर्ज हो जाता।

सीता—हर्ज कुछ भी नहीं होता, पर उन्हें तो ज़रा समझना चाहिए था कि मैं अब वही पहलेवाली बच्ची नहीं रही जब वह मुझे ख़ूब तंग किया करते थे। उन्हें जानना चाहिए कि अब मैं पर-स्त्री हूँ। उनकी इतनी बड़ी स्पर्द्धा तो देखिए।

नरेन्द्र—अच्छा तो यह कहिए कि यह आपने उनको स्पर्द्धा की सज़ा दी है !

सीता—जनाब, हर आदमी को हर हालत में अपनी स्थिति भूलनी न चाहिए।

नरेन्द्र—[फिर चुटकी लेते हुए] जो हो, पर उनको अपनी स्थिति का ज्ञान ज़रा मुलायम तरीक़े और ज़रा कम दिखावट के साथ भी कराया जाना संभव था; [हँसते हुए] पर जो हुआ सो हुआ, अब मैं उनसे तुम्हारी ओर से माफ़ी माँगने और मना कर यहाँ लिवा लाने जा रहा हूँ। कहाँ रहते हैं, बताओ।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सीता—[जल्दी से, तमक कर] जनाब, आपको अगर उनसे दोस्ती ही गाँठना हो तो उन्हें यहाँ बुलाये बग़ैर भी आप यह कर सकते हैं। और अगर उन्हें यहाँ बुलाना ही हो तो मुझे पहले बाबूजी के यहाँ भेज दीजिए। [मचल कर खड़ी हो जाती है और गर्दन दूसरी ओर फेर कर मानों कोई खोई हुई चीज़ खोजने लग जाती है।]

नरेन्द्र—[इस प्रकार मीठा मुसकुराते हुए मानों वह सीता की इन हरकतों को ख़ूब उपभोग कर रहे हैं] ख़ूब ! अरे न हो ज़रा-सा उन्हें प्यार ही कर लेतीं या कम से कम प्यार दिखलाने में कौन-सा हर्ज था ! अब फिर तो उनसे तुम्हारी शादी होने की नहीं, फिर कम से कम ज़रा उनका जी ही ख़ुश कर देतीं।

सीता—[काफ़ी क्रोध के भाव से] अच्छा, बस ! माफ़ करिए, कोई और बात हो तो कीजिए, बर्ना मैं जाने को उद्यत होती हूँ। [नरेन्द्र उसे हाथ पकड़ कर रोकता है और पास बैठाकर कुछ बनावटी गम्भीरता से कहता है।]

नरेन्द्र—तुम नहीं जानतीं पवित्र प्रेम, या भाई बहन का प्रेमभाव जो कि बक़ौल तुम्हारे सुरेश और तुम में इतने अर्से से था, कितना पवित्र, कितना कोमल

दूसरा उपाय ही क्या है ?

थे अभी अभी यह क़ाग़ज़ दे गये हैं और कह गये हैं कि आपको फ़ौरन दे दूँ।

सीता—[चिट्ठी हाथ में लेकर दबा लेती है और बिजली की तेज़ी से एक निगाह कमरे की ओर फेंकती है पर तुरन्त कुछ सकपका कर सिपाही से ज़रा धीरे में पूछती है] क्या वह बाहर जवाब के लिए खड़े हैं ?

सिपाही—जी, वह तो फ़ौरन चले गये, बल्कि मैंने ... [ठीक इसी समय ज़रा मुसकुराते हुए नरेन्द्र बाबू बाहर जाते हैं और सिपाही से पूछते हैं, सीता के चेहरे का रंग जल्दी जल्दी बदलता जाता है, वह कुछ मना करने का एक तीव्र पर बहुत बारीक़ इशारा सिपाही की तरफ़ करती है पर वह इधर ध्यान ही नहीं देता, नरेन्द्र की पैनी दृष्टि से शायद यह सब छिपा नहीं।]

नरेन्द्र—कौन फ़ौरन चले गये ? [सीता एक हताश-दृष्टि से सिपाही की ओर देखती है, फिर एकाएक घृणा-भरी मुस्कुराहट के साथ चिट्ठी नरेन्द्र के हाथ में देने को बढ़ाती है, नरेन्द्र मुसकुराता हुआ चिट्ठी को एक निगाह देख लेता है पर सिपाही के उत्तर की

ओर ही मुखातिब होता है। यह सब काम क्षण भर के अन्दर ही हो जाते हैं।]

सिपाही--[कुछ डरा हुआ] जी हजूर, वही बाबू जो आपसे फाटक पर मिले थे वही, रानी साहब को देने को यह चिट्ठी दे गये [सीता के हाथ-द्वारा बढ़ाई हुई चिट्ठी की ओर इशारा करता है]

नरेन्द्र-- ओ...ह !

सीता--[उसी घृणाव्यंजक हँसी के साथ] लीजिए न, ज़रा हिमाक़त तो देखिए। मैं तो इसे पढ़ूँगी भी नहीं। आप इसे पढ़ लीजिए और फिर मेरे सामने इसे जला डालिए।

नरेन्द्र--[उसी भाव से मुसकुराते हुए] वाह ! यह ख़ूब, तुम्हारी प्राइवेट चिट्ठी पढ़ने का मुझे क्या अधिकार ? तुम इसे पढ़ो या जलाओ या चाहे जो करो मुझसे कोई मतलब नहीं। मुझे यह जानने की भी ख़्वाहिश क़तई नहीं होनी चाहिए कि इसमें क्या लिखा है। [ज़रा ज़ोर से हँस कर कमरे में घुसते घुसते] आख़िर तुमने उसके साथ इतना हृदयहीन व्यवहार किया अब वह एक चिट्ठी भी न लिखे !

सीता--[साथ ही कमरे में घुसती है] तो आप नहीं पढ़ेंगे ?......अच्छा तो मैं अब इसे जलाती हूँ और

दूसरा उपाय ही क्या है ?

आप उन्हें मिहरबानी करके लिख दीजिए कि आइंदा वह फिर कभी मुझे चिट्ठी लिखने का साहस न करें। और यह भी लिखिए कि मैंने बिना पढ़े ही चिट्ठी जला दी है।

नरेन्द्र—मुझे चिट्ठी लिखने का अधिकार ? [व्यंग हँसी]

सीता—अच्छा मैं ही लिखूँगी पर पहले इसे जला तो दूँ। [दराज़ में से दियासलाई निकालती है और जलाने ही पर होती है कि नरेन्द्र हाथ रोक लेता है]

नरेन्द्र—बस काफ़ी हो चुका। अब आप मिहरबानी करके इसे पढ़ जाइए।

सीता—अच्छा तो आप ही पढ़ कर सुनाइए।

नरेन्द्र—[गम्भीरता से] अच्छा लाओ यही सही। [चिट्ठी लेकर देखता है] मालूम होता है कहीं सड़क पर से कोई काग़ज़ का टुकड़ा लेकर और रास्ते ही में कहीं बैठ कर लिखा है।

सीता—[चेहरे पर तीव्र उत्कंठा के भाव स्पष्ट हैं] अच्छा जो हो, पढ़िए तो सही।

[नरेन्द्र पढ़ता है] सीता, अब तुम एक बड़े रईस की बीबी हो, तुम ताज्जुब करती होगी कि इतने स्नेह-पूर्ण स्वागत के बाद भी कोई चिट्ठी कैसे लिख सकता है। मगर दया करके ग़लत न समझना।

दूसरा उपाय ही क्या है ?

मैं सिर्फ़ एक बात कहने गया था—सिर्फ़ एक; प्रेम करने या पाने की इच्छा या आशा से नहीं। तुम अब रानी हो। वह दिन और थे जब मैं तुम्हें 'सित्ती' कह कर पुकारता था और तुम आवाज़ सुनते ही दौड़ आती थीं। ख़ैर जाने दो इन बातों को। इन बातों को छेड़ते ही बहुत बातें याद आ जायँगी। अब मुझे इन सम्बोधनों का कोई अधिकार नहीं। बहुत संभव है मेरे जीवन-संबंधी सभी बातें अब अर्थशून्य होंगी—पर एकमात्र स्मृति मेरा संबल होगी। वह रहेगी। पर मुझे तुम्हारे घर तक अपनी उस यात्रा और उसके विफल होने पर इस पत्र-लेखन के कारण की ओर आना चाहिए। श्रीमतीजी! शायद आपको याद हो आपको मैंने अपनी एक तसवीर दी थी; आज मैं उसे लौटा लेना चाहता हूँ। क्यों लौटा लेना चाहता हूँ। यह जान कर आपको कोई लाभ नहीं होगा। आशा है आप लौटा देंगी। इति।

[नरेन्द्र कुछ क्षण के लिए गहरी चिन्ता में डूब जाता है। धीरे-धीरे उसकी आँखें भर आती हैं और फिर वह धीरे ही धीरे उन भरी आँखों को सीता की ओर उठाता है और यह देख कर कि सीता की हालत किसी शरबिद्ध हिंस्र पशु की-सी हो रही है उसकी भरी

दूसरा उपाय ही क्या है ?

आँखें किञ्चित् और भी विस्फारित हो जाती हैं और दो बड़ी बड़ी बूँदें उसके मांसल कपोलों पर ढुलक पड़ती हैं। फिर धीरे-धीरे जड़ित स्वर में कहता है] हाय पुरुषहृदय !

सीता—[आहत सिंहिनी की भाँति] जी हाँ, यही आप लोगों का पुरुषहृदय है ! किसी ओर से भी तो रक्षा नहीं है। स्त्री की मर्यादा भी तो कोई चीज़ है।

नरेन्द्र—[स्वस्थ होकर दृढ़ स्वर से]-- इन सब बातों में सुरेश बाबू का कोई अपराध ढूँढ़ निकालना कम से कम मेरे लिए असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में वह ऐसा न करते तभी मुझे आश्चर्य होता और फिर चिट्ठी से उनकी उदारता स्पष्ट है। इतने अपमान के बाद भी तुम्हें चिट्ठी लिखना अत्यन्त सहनशील और क्षमावान पुरुषहृदय का ही काम है।

सीता—[मर्माहत की भाँति छटपटा कर] क्या आप को कोई और काम नहीं है ? इस चिट्ठी के गुण-दोष की विवेचना करने की प्रार्थना आपसे कौन कर रहा है ?

नरेन्द्र—[क्षुब्ध होकर] देखो ! यह मत भूलना कि स्त्री के अन्याय का विचार करने का अधिकार पति को होता है। तुम्हीं ने न हम से अभी अभी बताया है कि

दूसरा उपाय ही क्या है ?

सुरेश बाबू से तुम्हारी शादी पक्की हो चुकी थी, और यह तुम्हारे बहुत पुराने पड़ोसी हैं और तुम इन्हें भैया कह कर पुकारा करती थीं। ऐसी अवस्था में सुरेश बाबू का तुम से प्रेम करना स्वाभाविक ही नहीं वरन सर्वथा उचित है।

सीता—ओह,—तो आप मुझे संदेह करते हैं!

नरेन्द्र—[उच्च स्वर से हृदयविदारक सूखी हँसी हँसने के बाद क्रमशः अत्यंत गंभीर होकर] संदेह नहीं, यदि पहले जानता तो तुम्हारे साथ विवाह ही न करता।

सीता—[एकदम सन्नाटे में आकर, कुर्सी पर गिर-सी पड़ती है, फिर क्रमशः रोने की बारी आती है और बाष्पपूर्ण स्वर से कहती है] आखिर को यही होना था......आप मुझे बाबूजी के यहाँ [बलपूर्वक आँसू रोक कर और आँचल से मुँह पोंछ, स्वर परिष्कार कर, धीमे पर दृढ़ कंठ से] भेज दीजिए। यदि आपके मन का यही भाव है तो मेरा यहाँ क्षण भर भी रहना अन्याय है। मेरे हृदय का दुख-सुख मुझ तक ही रहेगा, वह कभी किसी के सामने प्रकट नहीं हो सकेगा। [यह कह कर उठ कर चलने को ही थी पर नरेन्द्र बाबू लपक कर उसे थाम

दूसरा उपाय ही क्या है ?

लेते हैं और पास बैठते हुए बड़े स्नेह और अनुकम्पा के स्वर में कहते हैं]

नरेन्द्र—नहीं ! नहीं ! ऐसा नहीं । बे समझे बूझे इतना बड़ा अपराध हमारे सिर न मढ़ो । आख़िर तुम्हारे निकट हमारे प्रेम का भी तो कोई मूल्य होना चाहिए ।

सीता—मुझे किसी से कुछ शिकायत नहीं है पर तबीअत बदल आने दीजिए ।

नरेन्द्र—[आदर से] अच्छा चलो, हम दोनों ही कलकत्ते घूम आवें ।

सीता—नहीं, बाबूजी के यहाँ मुझे आज ही भेज दीजिए, और कोई उपाय नहीं है ।

नरेन्द्र—[गम्भीर स्वर से] अच्छा ऐसा ही होगा। वर्तमान स्त्री-समाज के प्राणियों के लिए इसके सिवा और दूसरा उपाय हो ही क्या सकता है ?

[सीता प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखती है। पर वह एक परम कारुणिक मुस्कुराहट के साथ उठ कर दूसरी ओर देखने लगता है । परदा गिरता है ।]

सर्वस्व-समर्पण

पात्र

विनोद—एक युवक ।

प्रेम—उसका मित्र ।

उमा—विनोद की स्त्री ।

निर्मला—विनोद के मामा की लड़की ।

प्रथम दृश्य

[एक उद्यान-गृह। स्थान स्थान पर भाँति भाँति के फूल तथा तलामंडपों से गृह के सामने का भाग सुशोभित है। बाग़ के बीच एक छोटी सी पक्की तलैया है जिसमें नीचे तक संगमरमर की सुन्दर सीढ़ियाँ लगी हुई हैं। तलैया के स्वच्छ जल में श्रावणी पूर्णिमा के चाँद की छाया पड़ रही है, पर उसके चारों ओर रंग बिरंगे फूलों से लदे हुए लतामंडपों से काफ़ी अँधेरा है। सबसे नीचे की सीढ़ी पर निर्मला बैठी हुई है मानों किसी गंभीर चिंता में निमग्न है। उसके पैर का निचला भाग पानी के अन्दर है। आकाश निर्मल है मानो अभी अभी पानी बरस चुका है। इधर-उधर सफ़ेद बादलों के टुकड़े भागते

हुए नज़र आ रहे हैं। हवा ज़रा तेज़ ही चल रही है। निर्मला की उम्र बीस या बाइस से अधिक न होगी। उसका केश-पाश अस्त-व्यस्त-सा उसकी पीठ पर हवा में हलकी हिलोरें-सी ले रहा है। पीछे से युवक प्रेम सीढ़ियों से धीरे-धीरे नीचे उतरता दिखाई पड़ता है पर इससे निर्मला का ध्यान नहीं भंग होता। प्रेम एक सफ़ेद पंजाबी चुना हुआ कुर्त्ता और चुनी हुई बंगाली ढंग की धोती पहने है। शरीर से ज़रा कृश पर काफ़ी सुगठित जान पड़ता है।]

प्रेम—मैं आ सकता हूँ?

निर्मला—आओ।

प्रेम—[दो सीढ़ी ऊपर बैठते हुए] आज तो आप किसी गहरी चिन्ता में लीन मालूम हो रही हैं। बात क्या है? मेरा अभिवादन तो स्वीकार हो।

निर्मला—यह क्या प्रेम भैया, इतनी दूर क्यों बैठे? पास आओ।

प्रेम—[जेब से एक सुन्दर राखी निकाल कर निर्मला की कलाई में बड़े आदर से बाँधता हुआ] पास अगर मेरे लिए जगह होगी तो फिर कभी बैठूँगा, अभी यह रसम तो पूरी होने दो।

निर्मला—यह क्या?

प्रेम—अरे तुम्हें यह भी नहीं पता, आज रक्षा-बन्धन है। भाई-बहन का सबसे बड़ा त्योहार यही है।

निर्मला—ओ—ह!

प्रेम—जी आपको इतनी भी खबर नहीं। यह पावस ऋतु है। कुछ कवियों ने इसी को ऋतुराज माना है। तुम्हारी वनलक्ष्मी का जो रूप इस ऋतु में होता है वह शायद और कभी नहीं।

निर्मला—अच्छा रहने भी दो। तुम्हारी शायराना बातों का जवाब कौन दे सकता है।

प्रेम—इसकी ज़रूरत भी नहीं है, जानती हो बातें पुरुष ही किया करते हैं। तुम लोग अगर प्रेम से चुपचाप सुन लो, बस जवाब हो गया।

निर्मला—अच्छा! अब आप बहुत गहरे जाने लगे। [कुछ रुककर] अच्छा प्रेम भैया, मरने की कोई अच्छी-सी तदबीर बता सकते हो?

प्रेम—क्या कहा! यह सूझ तो अच्छी है इस मौक़े पर।

निर्मला—नहीं, मज़ाक की बात नहीं, मैं सचमुच जानना चाहती हूँ।

प्रेम—क्या खूब! यह भी कोई पूछने की बात है! आजकल तो लोग कभी न मरने और सदा जवान रहने का ही उपाय ढूँढ़ते फिरते हैं।

निर्मला—[अन्यमनस्क होकर] जाने दीजिए, आपसे कुछ पूछना बेकार है।

प्रेम—[ज़रा गंभीर होकर] अपना मतलब ज़रा समझा कर कहो।

निर्मला—अगर आज विनोद भैया का मुँह देखे होते तो यह सवाल न करते।

प्रेम—[कुछ चिंता से] देखा है। उन्हीं के पास से तो आ रहा हूँ। कुछ तो मुझे संदेह हुआ है। पर बात क्या है ज़रा बताओ तो।

निर्मला—इधर कुछ दिनों से विनोद भैया बिलकुल बदलते जा रहे हैं। किसी कामकाज में उनका जी नहीं लगता। आज मैं अपने कमरे में बैठी एक मासिक पत्र के पन्ने उलट रही थी। इसी वक़्त आकर वे मुझे रोज़ पौदों में पानी देने और फूलों की सेवा का काम करने के लिए लिवा ले जाते थे। मैं उनका इंतज़ार ही कर रही थी। पर वे जिस तरह से रोज़ दौड़े दौड़े आते थे उस तरह से आये नहीं। आते ही चुपचाप एक कुरसी पर बैठ गये, पूछने लगे क्या पढ़ रही हो। मैंने उनके हाथ में वह मासिक पत्र रख दिया। कुछ देर तक वे उसके पन्ने चुपचाप उलटते गये। बीच बीच में मेरी ओर इस तरह देखते थे

मानो कुछ कहना चाहते हों। पर रुककर फिर पन्ने उलटने लगते थे। आख़ीर को वह पत्र मेज़ पर फेंककर खड़े हो गये। मैंने कहा, आज बाग़ में पानी देने न चलोगे। उन्होंने कहा, नहीं, आज मुझे काम से जाना है।

प्रेम—आख़ीर वह तुमसे क्या कहना चाहते थे इसका तुम्हें कुछ अंदाज़ा है।

निर्मला—तुम सब समझते हो प्रेम भैया। तुमसे हमारी कोई बात छिपी नहीं है। मैं छः बरस से ज़्यादा की नहीं थी जबसे हम और विनोद भैया साथ रहते हैं। मेरे बग़ैर उनका कोई काम ही नहीं ठीक होता। न तो वह इन ग़रीबों [फूलों के गमलों और क्यारियों की ओर इशारा करते हुए] की ही देख-रेख कर सकते हैं अकेले, न अपने तन-बदन की ही फ़िकर कर सकते हैं। जब से मेरी माँ और चाची का देहांत हुआ तब से चाचाजी ने बग़ीचे का सारा काम मेरे ही ऊपर छोड़ दिया। जानते तो हो तुम सब—

प्रेम—कहे चलो। आज सब फिर नया-सा मालूम पड़ रहा है।

निर्मला—इसी बीच चाचाजी ने विनोद भैया को बड़े प्रेम से यहाँ रक्खा और हम लोग भाई-बहन नहीं बल्कि

भाई भाई ही की भाँति बड़े हुए। अब चाचाजी भी नहीं हैं। चलते वक्त वे यही कह गये कि इन फूलों और पौधों को हम तुम्हीं दोनों पर छोड़े जाते हैं। भाभी पर उन्हें भरोसा नहीं था। वे मुझे और विनोद भैया को दो साथी समझते थे। इसके बाद से—

प्रेम—कह डालो, रुको मत।

निर्मला—तुम सब जानते तो हो, तुमसे क्या छिपाना। मैंने पहले पहल जब भाभी की निगाहें अपने ऊपर बदलती हुई देखीं तो मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। पल भर में वह सब बातें न जाने कहाँ लोप हो गईं। किसी ने मानों एक प्रबल आघात से मुझे बता दिया कि विनोद बाबू मेरे आश्रित नहीं मैं ही उनकी आश्रिता हूँ। और तुम्हें मालूम है मरते समय चाचाजी की एकमात्र विधवा बहन अपने इकलौते बेटे—इन्हीं विनोद भैया का भार चाचाजी को सौंप गई थीं। इस आघात ने मुझे पहली बार यह बतला दिया कि अब मैं सयानी हो गई हूँ, और मैं स्त्री हूँ, विनोद भैया पुरुष, और एक दूसरी स्त्री के पति हैं।

प्रेम—दूसरे शब्दों में इस धक्के ने तुम्हारे इस सोये हुए प्रेम को जगा दिया।

निर्मला—इसमें मेरा बस ही क्या है ? अपने को कब तक धोखे में रक्खा जा सकता है। [प्रेम कुछ सोचता रह जाता है]

निर्मला—[कुछ रुककर] अब बताओ, तुम कुछ कहते क्यों नहीं। मेरा यहाँ रहना भाभी के साथ अन्याय करना होगा।

प्रेम—मैं यह सब लोकाचार की बातें ज़रा कम समझता हूँ। भाभी तो अब आई हैं। पहले तो भाभी नहीं थीं, तुम थीं।

निर्मला—यह क्या कहते हो प्रेम भैया ! विनोद भैया का भी खयाल रखना होगा।

प्रेम—अच्छा तो आप समझती हैं इस आघात का असर सिर्फ़ आप ही पर हुआ है, और विनोद भैया वही हैं जो पहले थे !

[पीछे से एक पचीस छब्बीस वर्ष के युवक का प्रवेश। युवक का हृष्ट-पुष्ट शरीर उसका प्रशस्त ललाट और वक्षस्थल तथा बड़ा डील-डौल उसके असाधारण व्यक्तित्व की सूचना देते हैं।]

युवक—[पीछे से] प्रेम है क्या यहाँ ? [निर्मला उठकर खड़ी हो जाती है]

प्रेम—हाँ विनोद भैया।

विनोद—जो हो तुम्हें तुम्हारी भाभी याद कर रही हैं। दाई अभी इधर तुम्हें बुलाने ही आ रही थी। [प्रेम का प्रस्थान, निर्मला भी जाने को होती है]

विनोद—[भर्राई आवाज़ से] निर्मला तुम कहाँ जा रही हो! ज़रा ठहरो, तुमसे कुछ कहना है।

निर्मला—[अति कष्ट से] कहो।

विनोद—निर्मला! क्या यह अदृष्ट को मंज़ूर नहीं था कि हमारी और तुम्हारी जीवन-नौका एक साथ चले जाने देता। आज वायुमंडल में कुछ ऐसी उथल-पुथल मच गई है जिससे दोनों नावें एक दूसरे से दूर होती जा रही हैं। दोनों के यात्री एक दूसरे को दूर से ही इस तरह देख रहे हैं मानों आज ही उन्हें मालूम हुआ हो कि कोई शक्ति उनके चिर सहवास में बाधा भी डाल सकती है। यह झोंका जितना आकस्मिक है उतना ही असह्य-सा मालूम हो रहा है। क्या तुम इसे सह सकोगी नीरू?

निर्मला—सहना ही पड़ेगा।

विनोद—मगर.........[कुछ सोचकर] क्या बात क्या है? अच्छा क्या यह सच है कि स्त्रियों की सहन-शक्ति हम लोगों से अधिक होती है?

निर्मला—अधिक और कम का सवाल थोड़े ही है। बात यह है। मर्द के लिए सहन करने के सिवा और भी उपाय हैं, पर हम लोगों की वही एक गति है।

विनोद—[सन्नाटे में आकर फिर यकायक उत्तेजित हो] अच्छा नीरू, मैं तो पुरुष हूँ, मेरे पास सहन करने के सिवा और कई उपाय हैं। मैं लड़ूँगा; दैव से तुम्हारे लिए लड़ाई करूँगा। ज़रा देखूँगा वह कौन-सी शक्ति है जो तुम्हें हमसे अलग कर ले जाती है। [बद्धमुष्टि हो विस्फारित नेत्र से शून्य की ओर टकटकी लगा लेता है]

विनोद—कुछ देर रुक कर फिर ज़रा शान्त हो] मगर तुम सब कुछ बर्दाश्त कर लोगी मुझे मालूम है, [ज़रा स्मृति-सूचक मुस्कान के साथ] तुम्हें याद है एक बार तुम्हें चिढ़ाने के लिए सोते वक्त कैंची से मैंने तुम्हारे बाल काट लिये थे, वही लम्बे बाल जिन पर तुम्हें बड़ा नाज़ था। मगर तुम तुरन्त चौंककर खड़ी होगईं। तुम्हारी काली आँखें उस वक्त और भी काली हो गई थीं। 'तुमने सोचा होगा अच्छा छकाया' यह कहती हुई लपक कर छीन ली कैंची तुमने मेरे हाथ से, और गर्दन तक अपने बाल कतर डाले। मैं देखता ही रह गया। संयोग से मामाजी

भी पहुँच गये उसी समय। उन्होंने कहा 'यह क्या !' तुमने बड़े सहज भाव से ही कह दिया 'बड़ी गरमी लगती थी'। उन्होंने भी ज़रा मुस्कुरा भर दिया। न कुछ पूछा न कहा; सिर्फ़ चुपचाप कैंची लेकर तुम्हारे बाल बराबर कर दिये। तुम्हारे ही चाचा न थे वह !

निर्मला—अच्छा तो आपने समझा यह मैंने अपनी क्षमा का परिचय दिया था। धन्य है आपकी बुद्धि को ! यह नहीं मालूम कि असल में हमी ने तुम्हें छकाया था।

विनोद—बिलकुल ठीक ! दूसरे दिन लज्जा के बोझ से मैं मरा-सा जा रहा था। कमरे से बाहर नहीं निकलते बनता था। तुम दौड़ती हुई वसंत-लक्ष्मी-सी आकर मुझे बगीचे में घसीट ले गईं। और एक बात याद है ? वह जो चैत के महीने में सुबह की रात असमय आँधी आई थी और मेरे सोने-वाले बरामदे की [निर्मला विनोद के मुँह पर हाथ रख कर 'चुप' 'चुप' कहती है, पर विनोद प्रेम से उसका हाथ पकड़ कर हटा देता है और अस्फुट स्वर से कहे जाता है] छाजन......उड़......चली थी......और तुमने......आकर......

निर्मला—अच्छा न मानोगे [कह कर भाग खड़ी होती है]

विनोद—[अच्छा न कहूँगा—पर सुनो तो [कह कर व्याकुलता से दौड़ कर उसे पकड़ लेता है] नहीं भागो मत ! अभी मत जाओ ! जब जाने का समय आवेगा तभी........[कठोर और गम्भीर हो] मगर कभी भी तुम क्यों जाओ मेरे पास से ? इसकी वजह ही क्या हो सकती है, नहीं ऐसा नहीं होगा। किसी का क्या बिगाड़ा है हम और तुमने ! जलन...... ईर्ष्या......मगर क्यों ?

निर्मला—ऐसा क्यों कहते हो विनोद भैया ! क्या ईर्ष्या का कोई कारण नहीं दिया हम लोगों ने। अपने को भूल न जाना चाहिए।

विनोद—नीरु ! यह सब हम कुछ नहीं समझते, हम सिर्फ़ इतना जानते हैं कि जीवित रहते संसार की कोई शक्ति अब तुमको हमसे अलग नहीं कर सकती।

निर्मला—विनोद भैया ! इतने उत्तेजित न हो। भाभी का स्वास्थ्य दिन पर दिन क्षीण ही होता जा रहा है जब से बच्चा हुआ है। ऐसी अवस्था में अपना धर्म तुम

स्वयं समझ सकते हो। रह गई मैं। सो तुम मेरी चिन्ता छोड़ दो। मेरा कर्तव्य निश्चित है।

विनोद—[दृढ़ता से] यह सब मैं कुछ नहीं जानता। मैं सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि तुमको हमसे अलग कोई नहीं कर सकता।

निर्मला—मुझे कमज़ोर न बनाओ विनोद भैया! तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ। अपने नवजात शिशु का भी ज़रा ख़याल रखना।

विनोद—निर्मला तुम क्यों बार-बार बीबी-बच्चे की याद दिला रही हो? तुम जानती हो हमारे कथन का सारा प्राण इनका नाम लेते ही नष्ट हो जायगा, मगर नहीं। हम दोनों ने जब मामाजी की गोद में संसार-यात्रा आरम्भ की थी तब तो किसी को कुछ न सूझा। अब ऐसी कौन-सी परिस्थिति है जो हमारे-तुम्हारे इस लगभग बीस बरस के इतिहास को मिथ्या कर सकती है। पाँच बरस का भ्रम बीस बरस के सत्य को धक्का देकर मिथ्या नहीं कर सकता।

निर्मला—विनोद भैया! यह तुम आज क्या बक रहे हो! तुम्हें क्या हो गया है। क्या मेरे उद्धार के सभी रास्ते तुम बन्द कर देना चाहते हो?

विनोद—उद्धार ! उद्धार काहे से ? उद्धार का यदि कोई मार्ग हो भी तो मैं अब उसे बन्द कर दूँगा। प्यार करता हूँ तुमको। यह सहज सत्य आज बीस बरस से भूगर्भस्थित-सा था। आज ठोकर खाकर प्रस्फुटित हो उठा है। इसको पैर से कुचल कर फिर से दबा देना पाप होगा, अधर्म होगा—

निर्मला—[विनोद का मुँह बन्द करते हुए] चुप चुप बस बहुत हुआ। अब मुझे क्षमा करो, अभी मुझे जाने दो।

विनोद—[अत्यन्त उत्तेजित स्वर से]—क्षमा करूँ—कौन—मैं ? और तुम्हें क्षमा करूँ। नीरू क्षमा का पात्र मैं हूँ और जीवन की अंतिम घड़ी तक रहूँगा। मैं क्यों अंधा होगया था। मैंने अपने प्रेम को पहचाना क्यों नहीं। मैंने अपना विवाह होने दिया। तुमने तो अपना नहीं होने दिया, कितने एक पात्र आये और गये। मैं कहाँ भूला था, कहाँ सोया था !

निर्मला—मगर मुझे तो चाचाजी बगीचे का काम सौंप गये थे, मैं विवाह कैसे करती।

विनोद—बस ! बस ! तुम खूब जानती हो, तुमने क्यों नहीं विवाह किया। तुम्हारे हृदय का सत्य तुम्हारे

सारे अंतस्तल को हर घड़ी प्रकाशमान रखता था। तुम्हारा सारा अस्तित्व ही वही था, तुम चाहे उसे जानती रही हो या नहीं। तुमने हमें क्यों नहीं सचेत कर दिया नीरू ? हम लोगों का मार्ग क्यों जुदा होने दिया।

निर्मला—[गंभीर होकर] बस—बस—अब जो सामने है वह तो किसी के मान का नहीं। वह तो सत्य है और उसके लिए अब हाय हाय क्यों करते हो ? क्या होगा व्यर्थ छटपटाने से ?

विनोद—यह सब ठीक है मगर इसे सत्य न कहो........ यह भ्रम था, सत्य ने अब अपने आपको दिखाया है।

निर्मला—अच्छा, अच्छा, अब शांत हो, कल कोई मार्ग ढूँढ़ कर स्थिर किया जायगा।

विनोद—[कुछ शांत होकर लाल पारिजात फूलों की एक माला निकालता है] अच्छा नीरू ऐसी चाँदनी रात में तुम्हें यों ही नहीं जाने दूँगा। तुम्हारे पास एक ऐसी चीज़ रक्खे जाता हूँ जिससे तुम हमारी ही होकर रहोगी। [बड़े प्यार से धीरे धीरे निर्मला की चोटी को बाँध देता है और उसमें वही माला पहना देता है। निर्मला कोई आपत्ति नहीं करती। फिर

सामने खड़ा होकर एकटक निर्मला का मुँह ताकने लगता है। पूर्णचंद्र ठीक निर्मला के मुँह के सामने है] निर्मला तुम ··तुम···अद्‌भुत हो···[निर्मला एक हलकी-सी किलकारी के साथ हँसकर चिप्रगति से बारबार पीछे की ओर देखती हुई भाग खड़ी होती है। विनोद एकटक क्या—मुग्ध-सा—देखता ही रह जाता है, पीछा नहीं करता]

द्वितीय दृश्य

[एक बड़ा शयनकक्ष। कमरे में सिर्फ़ एक हरे बल्ब की बिजली की बत्ती जल रही है और वह भी बहुत धीमी है, चाँद की रोशनी की तरह। बीच में एक बड़ा-सा पलँग है जिस पर एक तेईस चौबीस वर्ष की स्त्री तकियों के सहारे आधी लेटी आधी बैठी है; हाथ में एक चिट्ठी है। देखने से स्त्री बहुत निर्बल और खिन्न मालूम होती है। बग़ल में एक ओर आर्मचेयर पर प्रेम बैठा है। सिरहाने से ज़रा दूर एक छोटे टेबिल पर कुछ दवाइयाँ, बोतल और जग आदि रक्खे हैं। बीचोंबीच ताज़े ख़ुशरंग फूलों का एक बड़ा-सा गुच्छा रक्खा हुआ है। यह विनोद बाबू की स्त्री उमादेवी हैं]

उमा—प्रेम तुम कहाँ ! निर्मला के पास से आ रहे हो ?

प्रेम—हाँ भाभीजी, अभी वहीं से भैया ने भेजा है आपके पास।

उमा—वह अभी उसी के पास हैं क्या ?

प्रेम—हाँ।

उमा—[ईषत् आवेश के साथ] अच्छा यह चिट्ठी ज़रा हमको पढ़कर सुनाओ। मुझे डाक्टर ने पढ़ने से मना कर दिया है। इसी लिए तुमको बुलाया।

प्रेम—यह चिट्ठी है किसकी ?

उमा—तुम्हारे भैया की। न मालूम क्यों हमसे रूठ गये हैं। यह चिट्ठी लिख कर भिजवा दी है। ख़ुद तो आज आये भी नहीं।

प्रेम—[चिट्ठी लेकर पढ़ता है]—

इतने दिन के परिचय के बाद भी हमारे ऊपर संदेह करना तुम्हारे लिए संभव हुआ। इस बात को लेकर कुछ कहना व्यर्थ है। यह भी समझा कि निर्मला को यहाँ से बिदा कर दूँ यही तुम्हारी इच्छा है। शायद यही होगा। पर तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि मैं आज जो कुछ हूँ वह स्वर्गीय मामा साहब की ही कृपा का फल है।

मैं यह सत्य भूला बैठा था कि निर्मला के ही आश्रित हम लोग हैं, पर तुमने आज उस सत्य को हम

पर प्रकट कर दिया। हम लोग उससे कभी भी उऋण नहीं हो सकेंगे। तुम्हारे संपर्क में, भविष्य में वह न आवे यह मैं देखूँगा। पर मेरे साथ उसका सम्बन्ध अटूट है यह बात भी तुम्हीं ने मुझे समझा दी। सब बातें नहीं कह सकता; वह सब भाषा से परे है। यदि तुम इतने से न समझो तो जीवन की मेरी यह पहली वेदना तुम्हारे नगीच अव्यक्त ही रह जायगी।

[चिट्ठी सुनते ही सुनते उमा सिसकियाँ भर कर रोने लगती है और अंत में हतप्राण-सी होकर शय्या पर लोट पड़ती है और सिर धुन कर रोने लगती है और प्रेम सन्नाटे में आकर गहरी चिन्ता में पड़ जाता है]

उमा—कुछ कहो प्रेम भैया यह क्या हो गया ? मेरा तो सर्वस्व लुट गया। [प्रेम अब भी चुप है]

उमा—तुम कुछ कहते क्यों नहीं प्रेम बाबू। यह मैंने क्या किया—आ—आ—हाय भगवान् ! क्या कोई भी मेरी वेदना समझने वाला नहीं रहा !

प्रेम—शांत हो भाभीजी। तुम्हारा शरीर कितना निर्मल है। मन बिगाड़कर अपना शरीर इस तरह क्यों नष्ट कर रही हो।

उमा—हो जाय शरीर नष्ट ! अब इसे लेकर क्या करना है ! किसके लिए। मुझी पर इतना अविश्वास।

वही उनकी उमा आज कहाँ है ? उसके हरे-भरे बाग़ को किसने एक झटके में उजाड़ डाला ? मुझे कितने नामों से पुकारते थे वे ! उनकी 'वनलक्ष्मी' आज कहाँ गई ? काम करके जब बाहर से लौटते थे मैं भोजन परसे उनकी राह देखा करती थी तो मुझे 'अन्नपूर्णा' कहते थे ! शाम को जब वे तलैया की सीढ़ी पर बैठते थे तब मैं तश्तरी में फूलों के बीच पान सजा कर उनके पास ले जाती थी और तब जानते हो मुझे क्या कहते थे—'तांबूलकरंकवाहिनी' ! वह सब स्नेह का समुद्र पल भर में कैसे सूख गया प्रेम बाबू बता सकते हो ?

प्रेम—भाभीजी ! तुम स्वस्थ हो। तुम्हारा आसन तुमसे कोई नहीं छीन सकेगा।

उमा—झूठी आशा क्यों देते तो प्रेम भैया। अब मैं कै घड़ी की मेहमान हूँ। डाक्टर जो कहते हैं उसकी भनक मेरे कान में भी आ जाती है। यही सब सुनकर और भी संसार छोड़कर जाने को जी नहीं चाहता।

प्रेम—इसकी जरूरत ही क्या है भाभीजी। इतने ही दिन जो सोहाग तुमने पाया है वैसा कितनी सुहागिनों को मिला है। तुमने जैसा प्रेम दिया वैसा ही

पाया है। डाक्टर की बात यदि सच ही हो तो जिसको बड़ा करके पाया उसे बड़ा ही छोड़ जाना। इतने दिन जिस गौरव से निभाया है उसे छोटा न कर जाना चला चली की बेर।

उमा—[एक छोटी बच्ची की भाँति फिर से पुक्का फाड़कर रो लेने के बाद] ठीक कहते हो प्रेम बाबू। मैं अपने इतने दिन के सोहाग को हँसती हँसती छोड़ जाती। पर कहीं तिल भर भी जगह न होगी जहाँ मेरी स्मृति का दीप टिमटिमाकर भी जलेगा। वह निर्मला सब पर दखल कर लेगी, पूरंपार। क्या यही मेरे सर्वस्व-समर्पण का फल होना है? यही विधना का विचार है?

प्रेम—[दृढ़ता से] एक सच बात कहूँगा भाभीजी, नाराज़ मत होना! जो तुम स्वयं उपभोग नहीं कर सकतीं उसे प्रसन्नचित्त से दान नहीं कर सकतीं यह कैसी बात है। और यह दान किसके लिए करोगी – वही, जिसको सब कुछ तुम देती आई हो इतने दिन तक? इससे तुम्हारे महान् उज्ज्वल प्रेम में एक धब्बा-सा लग जायगा। अपनी पुण्यस्मृति का स्वच्छ प्रदीप तुम अपने ही हाथों चूरमार मत करती जाना। तुम तो चली जाओगी, पर अपने विशाल हृदय को

अंतिम घड़ी संकुचित मत कर लेना—यही मेरी विनती है।

उमा—[सिसकती हुई] प्रेम बाबू! तुम महान् हो! मैं दुर्बल हूँ। अन्याय भी किया है मैंने। मुझसे तुम कैसे इतनी बड़ी बात की आशा करते हो। फिर भी तुम्हारी ही महत्ता मुझे बल देगी अच्छा प्रेम बाबू, मेरी एक बात मानोगे?

प्रेम—[पूरा उमा को देखते हुए] हुक्म दो भाभीजी।

उमा—मुझमें एक कमज़ोरी है। जब हृदय के आँसू भी सूख जाते हैं तब मैं ठाकुरजी की मूर्ति को देखने लगती हूँ। उनकी मूकवाणी हृदय तक पहुँचती है और उसको बल देती है। तुम जैसे हो सके इस समय मुझे ठाकुरद्वारे तक ले चलो। इससे मेरे हृदय को बल मिलेगा।

प्रेम—भाभीजी! तुम जानती हो मुझे लोग नास्तिक कहते हैं। तो भी मुझे ले चलने में कोई आपत्ति नहीं है। पर इससे कुछ लाभ न होगा।

उमा—प्रेम बाबू तुम्हारे मन में बहुत बल है, तुम को किसी गुरु या देवी-देवता का सहारा लेने की ज़रूरत नहीं है। पर तुम हमारी विपदा को किसी तरह समझ ही नहीं रहे हो। जितना ही मैं ज़ोर कर सँभलने की

कोशिश करती हूँ उतना ही मानों और अगाध कीचड़ में धँसती चली जा रही हूँ।

प्रेम—भाभीजी ! यह सब जाने दो। मेरी एक बात सुनो। बल सबके मन में उतना ही होता है। यह केवल उस बल से काम लेने या न लेने की इच्छा पर ही करता है निर्भर। यों ठाकुरद्वारे या गुरु की शरण जाकर मिलेगी नहीं शांति। एक बार दोनों हाथ से कलेजा थाम कर कह दो—'दिया हमने'! सबसे जो बहुमूल्य है वही दिया उसको जिसको प्यार किया सबसे अधिक। बस उसी घड़ी हृदय होगा हलका। आनन्द-विभोर हो उठेगा मन। काम नहीं है देवी-देवता का। कहो, कहो, अभी कहो—दिया—सब कुछ—अपना सर्वस्व उन्हें दिया, कुछ भी नहीं रक्खा हाथ में, अब निर्मुक्त होकर चली संसार से, बस—

उमा—[दृढ़ होकर] अच्छा यही होगा प्रेम ! तुम बुलाओ निर्मला और उनको।

प्रेम—नहीं, अभी वह समय नहीं आया है। इतनी जल्दी न करो। कहता हूँ समय आने दो, पक्का कर लो ख़ूब अपने मन को।

उमा—[दृढ़ता से] मत करो कोई संदेह प्रेम ! देखो वह इधर ही आ रहे हैं [विनोद का प्रवेश] उमा आवेश में आकर पलँग से दौड़कर विनोद के पैरों से लिपट जाती है, विनोद बड़े प्यार से उसे सँभाल कर पलँग पर बैठा देता है और इसके आँसू पोंछता है । प्रेम बाहर चला जाता है]

उमा—[खिसकती हुई विनोद की छाती में सिर छिपाकर] मुझे माफ़ कर दो—मुझे—मैंने बड़ा अन्याय किया है। मगर तुम नहीं थे ऐसे निठुर—तुम क्यों इतने नाराज़ हो गये [विनोद का हाथ खींच कर अपनी छाती में दबाकर] बोलो—बोलो तुम नाराज़ नहीं हो। नहीं तो उस लोक में भी शांति नहीं मिलेगी मुझे। कहो कहो, तुम कुछ नहीं कहोगे अब ?

विनोद—तुम तो जानती हो उमा, मैं तुमसे नाराज़ नहीं हो सकता। तुमसे मतभेद भले हो मगर इसकी वजह से कभी दिल टूटा है हमारा। तुम शांत हो।

उमा—अच्छा तो आये क्यों नहीं आज दिन भर यहाँ ?

विनोद—उमा मुझसे भूल हुई है [उसके चिबुक को दोनों हाथों में उठाकर] माफ़ करना होगा तुम्हें !

उमा—[लज्जा और हर्ष से गद्गद होकर] कब तुम क्या कहोगे इसका कुछ ठीक नहीं। कभी रुलाते हो,

कभी हँसाते हो। अच्छा निर्मला कहाँ है बुलाओ। मैंने प्रेम से उसे लिवा लाने कहा था; अभी आई नहीं।

विनोद—[ज़रा अन्यमनस्क] अब इस वक़्त रहने दो, रात हो चली है।

उमा—नहीं, दोनों बाहर हैं, मैं बुलाती हूँ, निर्मला और प्रेम! तुम लोग अंदर आओ।

[निर्मला और प्रेम का एक साथ प्रवेश। उमा निर्मला को बड़े प्रेम से अपने बग़ल पलँग पर बैठाती है। निर्मला पैर छूकर प्रणाम करती है। विनोद सकते की हालत में अलग बैठ जाता है कुर्सी पर, प्रेम एक ओर खड़ा रहता है। कुछ देर सब चुप रहते हैं। धीरे-धीरे उमा तकिये के नीचे से एक गहने का केस निकालती और उसमें से एक बहुमूल्य चंपाकली निकाल कर छलछलाई आँखों कुछ देर हार, कुछ देर निर्मला के मुँह की ओर देखती रहती है, फिर धीरे-धीरे बड़े प्यार से वह हार निर्मला को पहना कर उसके गले लग उसके दोनों गाल बड़ी आतुरता से चूम लेती है। निर्मला बराबर निर्विकार चित्त से ही बैठी रह जाती है। उमा फिर धीरे-धीरे कहती है]

उमा—एक दिन सोचा था चिता पर जब मेरा दाह होगा उस समय मेरे गले में यह चंपाकली रहेगी। पर उससे अब मैं यही अच्छा समझती हूँ।

निर्मला—[बड़े कष्ट से] भाभी मैं इसके अयोग्य हूँ, मुझे क्यों लजवाती हो ?

विनोद—[अति कष्ट से] निर्मला यह माला मुझे दे दो। उसका मूल्य सबसे अधिक मेरे नगीच है।

उमा—हे भगवान्। क्या इतने पर भी मेरे मन की बात कोई नहीं समझेगा ? निर्मला! मैं तुम्हें यहाँ से किसी तरह जाने न दूँगी। संसार में मेरा जो कुछ है उसी के साथ तुम्हें बाँध दूँगी। यह हार उसी बंधन का चिह्न है। इससे मैं शांति से मर सकूँगी।

निर्मला—[यकायक खड़े होकर माला उतारती हुई] तुम भूलती हो भाभी, मुझे किसी के साथ बाँधने की इच्छा न करना [माला उतार कर उमा के पैरों पर रखती हुई] अबके पहले मेरा भरोसा किया जा सकता था पर अब मेरा विश्वास न करना। दैव ने जिससे हमको वंचित रखना उचित समझा है वह मैं दूसरे को धोखा देकर न लूँगी। मेरा प्रणाम स्वीकार हो! [निर्मला का सवेग प्रस्थान और उसी के क्षण भर बाद ही विनोद भी

उसका अनुगमन करता है। उमा विस्कारित मुख-नेत्र से यह सब देखती ही रह जाती है। प्रेम के अधरों के कोने पर दुःखांत हँसी की क्षीण रेखा स्पष्ट है।]

उमा—यह क्या हुआ प्रेम ? यह तो सब गड़बड़ हो गया। कुछ बोलो प्रेम—

प्रेम—मैंने पहले ही कहा था अभी समय नहीं हुआ; पर आप न मानीं।

उमा—मगर मैंने तो साफ़ सब कुछ कह दिया, सब दे दिया उसको, क्या इतने से भी वह नहीं समझी ?

प्रेम—वह ख़ूब समझी। वह समझ गई, अभी तुम्हारा मन साफ़ नहीं हुआ। सुर में सुर नहीं मिला।

उमा—[फिर उसी प्रकार अधीर हो पलँग पर पछाड़ खाकर] किसी तरह भी शुद्ध नहीं होगा मेरा मन ? क्या मैं ऐसी ही तड़पा करूँगी मरने के बाद भी। कौन कर देगा शुद्ध मेरे मन को ? प्रेम बाबू तुम तो बहुत महान् हो, बताते क्यों नहीं। कहाँ जाऊँ, मैं क्या करूँ......।

प्रेम—तुम अब सो जाओ भाभी !

उमा—मुझे अब नींद कहाँ प्रेम ! वे घर छोड़ कर

अगर उसके साथ चले गये तो मेरी लाश को यहाँ से तुम्हीं ले जाना।

प्रेम—वह कहीं नहीं जा सकते, मैं अभी उनको लिवा लाता हूँ मगर शर्त यह कि आप शांत होकर सोवें।

उमा—अच्छा जाओ। [प्रेम का प्रस्थान]

तृतीय दृश्य

[कुछ दिन बाद, स्थान वही उमा का शयन-कक्ष। समय प्रातःकाल ६ बजे। पलँग पर उमा पड़ी हुई है, पहले से कहीं अधिक कृश और निर्बल, पर चेहरे पर एक अस्वाभाविक दीप्ति। विनोद बग़ल की कुर्सी पर बैठा हुआ है, चिंतित और विषण्ण। हाथ में एक अँगरेज़ी अख़बार है। उत्सुकता से बार-बार कुछ पढ़ रहा है]

उमा—[अति क्षीण कंठस्वर से] निर्मला और विनोद जेल से न जाने कब छूट कर आवेंगे।

विनोद—[जल्दी जल्दी कुछ पढ़ता हुआ मानों कोई बड़ी दिलचस्प बात पढ़ रहा हो] ठहरो, अभी बताता हूँ।

उमा—क्या इन्हीं लोगों के बारे में कोई ख़बर है क्या ?

विनोद—[सिर उठाये बिना ही] हूँ।

उमा—[उत्तेजित हो पलँग पर बैठ जाती है] बताओ, जल्दी बताओ, क्या हुआ, क्या ? कब आ रहे हैं ? अभी तक तो यह भी नहीं मालूम हुआ कि वे दोनों जेल भेजे क्यों गये थे।

विनोद—[एक दीर्घ निःश्वास लेकर अख़बार टेबल पर फेंक देता है] अरे तुम करती क्या हो ? शांत हो लेटो। डाक्टर ने तुम्हें हर प्रकार की मानसिक उत्तेजना से दूर रहने को कहा है न ?

उमा—अब डाक्टर वैद्य का काम ख़तम हो चुका। बताओ। उन्हीं दोनों को एक बार देखने के लिए रुकी हुई हूँ। प्रेम से मैं एक बात का वादा कर चुकी हूँ, उसे उसी के सामने पूरा करना होगा। अच्छा, पहले यह बताओ वे दोनों क्यों जेल गये ?

विनोद—[कुछ आगा-पीछा करता हुआ] अब नहीं मानती हो तो सुनो। तुम्हारे कमरे से निकल कर निर्मला ने सविनय क़ानून भङ्ग कर जेल जाने का निश्चय किया। यदि प्रेम न होता तो शायद वह अब तक आत्मघात ही कर चुकी होती। पर प्रेम ने ही उसे ऐसा न करने पर बाध्य किया और इसके बजाय कुछ दिन के लिए जेल जाने की सलाह दी। दोनों ही

सरकार के विरुद्ध कुछ षड्यंत्रकारी व्याख्यान देते हुए पकड़े गये। कल विचार समाप्त होने पर दोनों निर्दोष माने जाकर आज सवेरे आठ बजे छोड़ दिये जानेवाले थे। अब तक छूट गये होंगे। आते ही होंगे।

उमा—मेरी चिट्ठी दे आये थे न जेल में?

विनोद—हाँ, उसमें तुमने उसे शपथ देकर छूटने पर सीधे यहाँ आने को कहा है। बड़ी मुश्किल से उसने एक बार आने को कहा है।

उमा—[ज़ोर ज़ोर से और जल्दी जल्दी साँस लेते हुए] अच्छा एक बात सुनो, बतावें। कल रात ही से मन ही मन सोच रही हूँ कि अब की उससे भेंट होते ही उसे सच्चे दिल से अपनी सगी बहन की भाँति खींच कर छाती से चिपका लूँगी। बोलो क्या कहते हो? बुरा तो नहीं मानोगे। हमारी सहायता करोगे न? बोलो! तुम्हारे प्रेम से मैं वंचित न हो सकूँ तभी मैं अपने समूचे प्यार की थाती उसे सौंप कर शान्ति से इस संसार से बिदा ले सकूँगी।

[विनोद विचलित हो पलँग पर जा उसे गोद में ले छलछलाई आँखों से बार-बार प्यार करने लगता है। दोनों ही की आँखों से झर-झर आँसू बहने लगते हैं। कुछ

जाता है। विनोद बाहर तक पहुँचाने जाता है। नर्स सिरहाने खड़ी है]

उमा—प्रेम भैया ! मुझे तुम्हारी बातें याद हैं। मैं अपना सब दूँगी उसे। दूँगी, दूँगी। तुम कहाँ हो..... [इसके बाद आँखें बंदकर पड़ रहती है। ओठ धीरे धीरे हिलते रहते हैं मानो कुछ कह रहे हैं। ठीक इसी समय विनोद निर्मला का हाथ पकड़े हुए कमरे में प्रवेश करता है। निर्मला कुछ कृश हो गई है। एक सादी साड़ी पहने है। केश खुले हैं। प्रेम भी कुछ मलिन वेश में है। दाढ़ी मूँछें कुछ बढ़ी हुई हैं। उमा धीरे धीरे कहती है] प्रेम भैया—

विनोद—[उमा के कान के पास मुँह ले जाकर] उमा—देखो तो कौन आये हैं।

उमा—[क्षण भर के लिए आँखें खोलकर] अच्छा तुम बाहर जाओ।

[विनोद और प्रेम बाहर चले जाते हैं। निर्मला झुक-कर उमा के पैर छूकर प्रणाम करती है। पर उसका स्पर्श होते ही मानों बिजली के धक्के से उमा का सारा निस्पंद शरीर सिहर उठता है। पैर तेज़ी से हट जाते हैं। भर्राई आवाज़ से, अस्वाभाविक रूप से चिल्ला कर कहती है] नहीं होगा! यह नहीं होगा मुझसे! [इतना कहते कहते

मानो उसके शरीर में असाधारण बल आ जाता है। उसकी आँखें फैल जाती हैं और जलते हुए अंगारे की भाँति सुर्ख़ हो जाती हैं। वह यकायक पलँग पर बैठकर मज़बूती से निर्मला का हाथ पकड़ लेती है और आग्नेय दृष्टि से उसे घूरती हुई कहती है] राक्षसी, तू यहाँ क्यों आई ? तेरा यहाँ क्या है ? मैं मरूँगी नहीं, रहूँगी ! रहूँगी !! [फिर यकायक नीचे उतरकर खड़ी हो जाती है और अपनी शेष शक्ति लगा अमानुषिक स्वर से कहने लगती है] भाग, भाग डाइन यहाँ से ! तू मेरा सर्वस्व लेने आई है ? अभी मुँह काला कर यहाँ से, नहीं तो जन्म भर तेरा ख़ून चूसूँगी मैं ! तू—[इतना कह कर हतप्राण हो शरीर की सारी शक्ति ख़र्च कर फ़र्श पर लुढ़क जाती है। निर्मला सन्नाटे में आकर चित्रलिखी-सी सब देखती रह जाती है। हल्ला सुनकर बाहर से विनोद और प्रेम दौड़कर आते हैं। उमा के अन्तिम शब्द सुनकर वह दोनों दहलीज़ ही पर टिक जाते हैं। पर्दा गिरता है।*]

---

* इस नाटक की कथा वस्तु के लिए लेखक टैगोर की अपूर्व कृति 'मालंच' का ऋणी है।